

श्री अन्द्रविमहतर प्रणीत

# पंचसंग्रह

[बंधव्य-प्रलेपणा अधिकार]

(मूल, शब्दार्थ, विवेचन युक्त)

हिन्दी व्याख्याकार

अमण्डली प्रदत्तिक मलधरके सरी  
श्री मिश्री मल जी महाराज

सम्प्रेक्ष

महाराजूषण

श्री सुकनमुनि

सम्पादक

देवकुमार जैन

प्रकाशक

आचार्यश्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान, जोधपुर

# प्रकाशकीय

जैनदर्शन का भर्तु समझना हो तो 'कर्मसिद्धान्त' को समझना अत्यधिक है। कर्मसिद्धान्त का सर्वांगीण तथा प्रामाणिक विवेचन 'कर्मग्रन्थ' (अह भाग) में बहुत ही विशद रूप से हुआ है, जिनका प्रकाशन करने का गौरव हमारी समिति को प्राप्त हुआ। कर्मग्रन्थ के प्रकाशन से कर्मसाहित्य के जिज्ञासुओं को बहुत लाभ हुआ तथा अनेक कीवों से आज उनकी माँग बराबर आ रही है।

कर्मग्रन्थ की भाँति ही 'पञ्चसंग्रह' ग्रन्थ भी जैन कर्मसाहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमें भी विस्तार पूर्वक कर्मसिद्धान्त के समस्त अंगों का विवेचन है।

पुज्य गुरुदेव श्री मरुधरकेसरी मिश्रीमल जी महाराज जैनदर्शन के प्रौढ़ विद्वान् और सुन्दर विवेचनकार थे। उनकी प्रतिभा अद्भुत थी, ज्ञान की तीव्र रुचि अनुकरणीय थी। समाज में ज्ञान के प्रचार-प्रसार में अत्यधिक रुचि रखते थे। यह गुरुदेवश्री के विद्यानुराग का प्रत्यक्ष उदाहरण है कि इतनी वृद्ध अवस्था में भी पञ्चसंग्रह जैसे जटिल और विशाल ग्रन्थ की व्याख्या, विवेचन एवं प्रकाशन का अद्भुत साहसिक निर्णय उन्होंने किया और इस कार्य को सम्पन्न करने की समस्त व्यवस्था भी करवाई।

जैनदर्शन एवं कर्मसिद्धान्त के विजिष्ट अभ्यासी श्री देवकुमार जी जैन ने गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन में इस ग्रन्थ का सम्पादन कर प्रस्तुत किया है। इसके प्रकाशन हेतु गुरुदेवश्री जे प्रसिद्ध साहित्यकार श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना को जिमेवारी सीधी और वि० सं० २०३६ के आश्विन मास में इसका प्रकाशन-मुद्रण प्रारम्भ कर दिया

गया। गुरुदेवश्री ने श्री सुराना जी को दायित्व सौंपते हुए फरमाया—  
‘मेरे शरीर का कोई भरोसा नहीं है, इस कार्य को शीघ्र सम्पन्न कर  
लो।’ उस समय यह बात सामान्य लग रही थी, किसे जात था कि  
गुरुदेवश्री हमें इतनी जल्दी छोड़कर चले जायेगे। किंतु क्रूर काल  
की विडम्बना देखिये कि ग्रन्थ का प्रकाशन आखू ही हुआ था कि  
१७ जनवरी १९८४ को पूज्य गुरुदेव के आकस्मिक स्वर्गबास से सर्वत्र  
एक स्तम्भता व रित्तता-सी आ गई। गुरुदेव का व्यापक प्रभाव समूचे  
संघ पर था और उनकी दिवंगति से समूचा अमणसंघ ही अपूरणीय  
क्षति अनुभव करने लगा।

पूज्य गुरुदेवश्री ने जिस महाकाय ग्रन्थ पर इतना श्रम किया और  
जिसके प्रकाशन की भावना लिये ही चले गये, वह ग्रन्थ अब पूज्य  
गुरुदेवश्री के प्रधान शिष्य महारामूषण श्री सुकन्मुनि जी महाराज  
के मार्मदर्शन में सम्पन्न हो रहा है, यह प्रसन्नता का विषय है। श्रीयुत  
सुराना जी एवं श्री देवकुमार जी जैन इस ग्रन्थ के प्रकाशन-मुद्रण सम्बन्धी  
सभी दायित्व निभा रहे हैं और इसी शीघ्र ही पूर्ण कर पाठकों के समक्ष  
रखेंगे, यह ढढ़ किश्वास है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में श्रीमान् स्व. पारसमल जी मुथा (रायचूर)  
के परिवार ने तथा सोनवनराज जी मुथा (गंगावती) ने पूर्ण अर्थ-  
सहयोग प्रदान किया है, आपके अनुकरणीय सहयोग के प्रति हम सदा  
आभारी रहेंगे।

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान अपने कार्यक्रम में इस ग्रन्थ  
को प्राथमिकता देकर सम्पन्न करवाने में प्रयत्नशील है।

आशा है जिजायु पाठक लाभान्वित होंगे।

मन्त्री

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान

जोधपुर

## आमुख

जैनदर्शन के सम्पूर्ण चिन्तन, मनन और विवेचन का आधार आत्मा है। आत्मा स्वतन्त्र शक्ति है। अपने सुख-दुःख का नियंता भी वही है और उसका फल-भोग करने वाला भी वही है। आत्मा स्वयं में अमूल्य है, परम विजुद्ध है, किन्तु वह शरीर के साथ सूतिमान बनकर अशुद्ध दशा में संभार में परिव्रमण कर रहा है। स्वयं परम भ आनन्दस्वरूप होने पर भी सुख-दुःख के चक्र में पिस रहा है। अजर-अमर होकर भी जन्म-मृत्यु के प्रवाह में बह रहा है। आश्चर्य है कि जो आत्मा परम शक्तिसम्पन्न है, वही दीन-हीन, दुःखी, दरिद्र के रूप में संसार में यातना और कष्ट भी भोग रहा है। इसका कारण क्या है ?

जैनदर्शन इस कारण की विवेचना करते हुए कहता है—आत्मा को संसार में भटकाने वाला कर्म है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है—कर्म व जाई मरणस्त मूल है। भगवान् श्री महावीर का यह कथन अक्षरतः सत्य है, तथ्य है। कर्म के कारण ही यह विश्व विविध विचित्र घटनाचक्रों में प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है। ईश्वरवादी दर्शनों ने इस विश्ववैचित्र्य एवं सुख-दुःख का कारण जहाँ ईश्वर को माना है, वहीं जैनदर्शन ने समस्त सुख-दुःख एवं विश्ववैचित्र्य का कारण मूलतः जीव एवं उसका मुख्य सहायक कर्म माना है। कर्म स्वतन्त्र रूप से कोई शक्ति नहीं है, वह स्वयं में पुद्गल है, जड़ है। किन्तु राग-होत-वशवर्ती आत्मा के द्वारा कर्म किये जाने पर वे इसने बलवान् और शक्तिसम्पन्न बन जाते हैं कि कर्ता को भी अपने बन्धन में बांध लेते हैं। मालिक को भी नीकार की तरह नजाते हैं। यह कर्म की बड़ी विचित्र शक्ति है। हमारे जीवन और जगत के समस्त परिवर्तनों का

यह मुख्य कीज कर्म क्या है ? इसका स्वरूप क्या है ? इसके विविध परिणाम कैसे होते हैं ? यह बड़ा ही गम्भीर विषय है । जैनदर्शन में कर्म का बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है । कर्म का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अत्यन्त गहन विवेचन जैन आगमों में और उत्तरवर्ती ग्रन्थों में प्राप्त होता है । वह प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में होने के कारण विद्वद्योग्य तो है, पर साधारण जिज्ञासु के लिए दुर्बोध है । थोकड़ों में कर्मसिद्धान्त के विविध स्वरूप का वर्णन प्राचीन आचार्यों ने गौथा है, कण्ठस्थ करने पर साधारण तत्त्व-जिज्ञासु के लिए वह अच्छा ज्ञानदायक सिद्ध होता है ।

कर्मलिङ्गात्मा ने प्राचीन ग्रन्थों में शर्मशङ्ख और पञ्चसंग्रह इन दोनों ग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान है । इसमें जैनदर्शन-सम्मत समस्त कर्मबाद, गुणस्थान, मार्गणा, जीव, अजीव के भेद-प्रभेद आदि समस्त जैनदर्शन का विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है । ग्रन्थ जटिल प्राकृत भाषा में हैं और इनकी संस्कृत में अनेक टीकाएँ भी प्रसिद्ध हैं । गुजराती में भी इसका विवेचन काफी प्रसिद्ध है । हिन्दी भाषा में कर्मग्रन्थ के छह भागों का विवेचन कुछ बर्बे पूर्व ही परम श्रद्धेय गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन में प्रकाशित हो चुका है, सर्वत्र उनका स्वागत हुआ । पूज्य गुरुदेव श्री के मार्गदर्शन में पञ्चसंग्रह (दस भाग) का विवेचन भी हिन्दी भाषा में संबार हो गया और प्रकाशन भी प्रारम्भ हो गया, किन्तु उनके समक्ष एक भी भाग नहीं आ सका, यह कमी मेरे मन को खटकती रही, किन्तु निरुपाय ! अब गुरुदेवश्री की भावना के अनुसार ग्रन्थ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है, आशा है इसमें सभी लाभान्वित होंगे ।

—सुकनमुनि

# पूर्णपादकीर्ति

श्रीमद्ददेवेन्द्रसुरि विरचित कर्मग्रन्थों का सम्पादन करने के सन्दर्भ में जैन कर्मसाहित्य के विभिन्न ग्रन्थों के अवलोकन करने का प्रयत्न आया। इन ग्रन्थों में श्रीमदाचार्य चतुर्द्विभृतरकृत 'पंचसंग्रह' प्रमुख है।

कर्मग्रन्थों के सम्पादन के समय यह विचार आया कि पंचसंग्रह को भी सर्वजनसुलभ, पठनीय बनाया जाये। अन्य कार्यों में लगे रहने से लक्षात् तो कार्य प्रारम्भ नहीं किया जा सका। परन्तु विचार तो यह ही और पाली (भारतवाङ) में विवरणित पूज्य गुरुदेव भृष्टरैतारी, श्रमणसूर्य श्री मिश्रीमल जी म. सा. की सेवा में उपस्थित हुआ एवं निवेदन किया—

भन्ते ! कर्मग्रन्थों का प्रकाशन तो हो चुका है, अब इसी क्रम में पंचसंग्रह को भी प्रकाशित कराया जाये।

गुरुदेव ने फरमाया विचार प्रशस्त है और चाहता भी है कि ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित हों, मानसिक उत्साह होते हुए भी शारीरिक स्थिति साथ नहीं दे पाती है। तब मैंने कहा— आप आदेश दीजिये। कार्य करना ही है तो आपके आशीर्वाद ने सम्पन्न होगा ही, आपश्री की प्रेरणा एवं मार्गदर्शन से कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

'तथासतु' के मांगलिक के साथ ग्रन्थ की गुरुता और गम्भीरता को सुगम बनाने हेतु अपेक्षित मानसिक शब्द को नियोजित करके कार्य प्रारम्भ कर दिया। 'शनैः कथा' की गति से करते-करते आदे से अधिक ग्रन्थ गुरुदेव के बगड़ी सज्जनपुर चालुमसि तक तैयार करके सेवा में उपस्थित हुआ। गुरुदेवश्री ने प्रमोदभाव व्यक्त कर फरमाया—  
चरैवेति-नरैवेति ।

इसी बीच शिवशम्भूरि विरचित 'कम्भपद्धी' (कर्मप्रकृति) ग्रन्थ के सम्पादन का अवसर मिला। इसका लाभ यह हुआ कि बहुत से जटिल माने जाने वाले स्थलों का समाधान सुगमता से होता गया।

अर्थबोध की सुगमता के लिए ग्रन्थ के सम्पादन में पहले मूलगाथा और यथाक्रम शब्दार्थ, गाथार्थ के पश्चात् विशेषार्थ के रूप में गाथा के हार्दि को स्पष्ट किया है। यथास्थान प्रत्यान्तरों, मतान्तरों के मन्तव्यों का टिप्पणी के इस वें भाग में उल्लिख किया है।

इस समस्त कार्य की सम्पन्नता पूज्य गुहदेव के बरद आशीर्वदों का सुफल है। एतदर्थं कृतज्ञ हैं। साथ ही मरुधरारत्न श्री रजतमुनि जी एवं मरुबरामूर्खण श्री मुकनमुनिजी का हार्दिक आभार मानता हैं कि कार्य की पूर्णता के लिए प्रतिसमय प्रोत्साहन एवं प्रेरणा का पार्थेय प्रदान किया।

ग्रन्थ की भूल प्रति की प्राप्ति के लिए श्री लालभाई दलपतभाई संस्कृति विद्यामन्त्रिर अहमदाबाद के निदेशक एवं साहित्यानुरागी श्री दलमुखभाई मालवणिया का सर्वेह आभारी हैं। साथ ही वे सभी धन्यवादार्ह हैं, जिन्होंने किसी न किसी रूप में अपना-अपना सहयोग दिया है।

ग्रन्थ के विवेचन में पूरी सावधानता रखी है और ध्यान रखा है कि संदर्भान्तिक भूल, अस्पष्टता आदि न रहेएवं अन्यथा प्रेरणा भी न हो जाये। फिर भी यदि कहीं चूक रह गई हो तो विद्वान् पाठकों से निवेदन है कि प्रमादजन्य सख्लना मानकर श्रूटि का संशोधन, परिमार्जन करते हुए सूचित करें। उसका प्रयास मुझे जानवृद्धि में सहायक होगा। इसी अनुग्रह के लिए सानुरोध आग्रह है।

भावना तो यही थी कि पूज्य गुहदेव अपनी कृति का अवलोकन करते, लेकिन सम्भव नहीं हो सका। अतः 'कालाय तस्मै नमः' के साथ-साथ विनाश श्रद्धांजलि के रूप में—

त्वदीयं वस्तु शोकिन्द्र ! तु भवेत् समर्पयते ।

के अनुसार उन्होंने सादर समर्पित है।

खजांची मोहल्ला  
बीकानेर, ३३८००५

विनीत  
देवकुमार जैन

## श्रमणसंघ के भीष्म-पितामह

श्रमणसूर्य रवि. गुरुदेव श्री मिश्रीमल जी महाराज

स्थानकवासी जैन परम्परा के ५०० वर्षों के हत्तिहास में कुछ ही ऐसे गिने-नुने महापुरुष हुए हैं जिनका विराट् व्यक्तित्व अनन्त असीम नभोमण्डल की भाँति व्यापक और सीमातीत रहा हो। जिनके उपकारों से न सिर्फ स्थानकवासी जैन, न सिर्फ इकेतास्वर जैन, न सिर्फ जैन किन्तु जैन-अजैन, बालक-बृद्ध, नारी-पुरुष, श्रमण-श्रमणी सभी उपकृत हुए हैं और सब उस महान् विराट् व्यक्तित्व की सीतल छाया से लाभान्वित भी हुए हैं। ऐसे ही एक आकाशीय व्यक्तित्व का नाम है—श्रमण-सूर्य प्रवर्तक महधरके सरी श्री मिश्रीमल जी महाराज !

पता नहीं के पूर्वजन्म की क्या अखूट पुण्यादि लेकर आये थे कि बाल-सूर्य की भाँति निरन्तर तेज-प्रताप-प्रभाव-यश और सफलता की तेज-स्विता, प्रभास्वरता से बढ़ते ही गये, किन्तु उनके जीवन की कुछ विलक्षणता यही है कि सूर्य मध्याह्न बाद क्षीण होने लगता है, किन्तु यह श्रमणसूर्य जीवन के मध्याह्नोत्तर काल में अधिक अधिक दीप्त होता रहा, उयों-ज्यों यीवन की नदी बुढ़ापे के सागर की ओर बढ़ती गई त्यों-त्यों उसका प्रवाह तेज होता रहा, उसकी धारा विशाल और विशालतम होती गई, सीमाएं व्यापक बनती गई, प्रभाव-प्रवाह सौ-सौ धाराएं बनकर मांव-नगर-वन-उपवन सभी को तृप्त-परितृप्त करता गया। यह सूर्य द्वन्द्वे की अंतिम धड़ी, अंतिम क्षण तक तेज से दीप्त रहा, प्रभाव से प्रचण्ड रहा और उसकी किरणों वा विस्तार अनन्त असीम गगन के दिक्कोणों की छूता रहा।

जैसे लड्ढ़ा का प्रत्येक दाना मीठा होता है, अंगूर का प्रत्येक अंश अधुर होता है, इसी प्रकार गुरुदेव श्री मिश्रीमल जी महाराज का

जीवन, उनके जीवन का प्रत्येक क्षण, उनकी जीवनधारा का प्रत्येक जलविन्दु मधुर मधुरतम जीवनदायी रहा । उनके जीवन-सागर की महराई में उतरकर गोता लगाने से गुणों की विविध बहुमूल्य मणियाँ हाथ लगती हैं तो अनुभव होता है, मानव जीवन का ऐसा कौन सा गुण है जो इस महापुरुष में नहीं था । उदारता, सहिष्णुता, दयालुता, प्रभावशीलता, समता, क्षमता, गुणशता, विद्वत्ता, कवित्वशक्ति, प्रबचनशक्ति, अदम्य साहस, अद्भुत नेतृत्वक्षमता, संघ-समाज की संरक्षणशीलता, युगचेतना को धर्म का नया बोध देने की कुशलता, न जाने कितने उदात्त गुण व्यक्तित्व सागर में छिपे थे । उनकी गणना करना असंभव नहीं तो दुःसंभव अवश्य ही है । महान् ताकिक आचार्य सिद्धसेन के शब्दों में—

कल्पान्तवान्तपथसः प्रकटोऽपि यस्मान्  
मीथेत् केन जगद्देहेन्द्रन् रक्षराणोः ।

कल्पान्तकाल की पवन में उत्पेरित, उच्चाले खाकर बाहर भूमि पर गिरी समुद्र की असीम अगणित मणियाँ सामने दीखती जरूर हैं, किन्तु कोई उनकी गणना नहीं कर सकता, इसी प्रकार महापुरुषों के गुण भी दीखते हुए भी गिनती से बाहर होते हैं ।

### जीवन रेखाएँ

श्रद्धेय गुरुदेव का जन्म वि. सं. १६४८ श्रावण शुक्ला चतुर्दशी की पाली शहर में हुआ ।

पांच वर्ष की आयु में ही माता का वियोग हो गया । १३ वर्ष की अवस्था में भयंकर बीमारी का आक्रमण हुआ । उस समय श्रद्धेय गुरुदेव श्री मानमलजी म. एवं स्व. गुरुदेव श्री बुधमलजी म. ने मंगलपाठ सुनाया और अभिकारिक प्रभाव हुआ, आप शीघ्र ही स्वस्थ हो गये । काल का ग्रास बनते-बनते बच गये ।

गुरुदेव के इस अद्भुत प्रभाव को देखकर उनके प्रति हृदय की असोध श्रद्धा उमड़ आई । उनका शिष्य बनने की तीव्र उत्कृष्टा जग-

पढ़ी। इस बीच गुरुदेवश्री मातृमलजी म. का वि. सं. १९७५, भाष्य वडी उ को जोधपुर में स्वर्गवास हो गया। वि. सं. १९७५ अलंबन तृतीया को पूज्य स्वामी श्री बुधमलजी महाराज के कर-कमलों से आपने दीक्षा-रत्न प्राप्त किया।

आपकी बुद्धि बड़ी विचक्षण थी। प्रतिभा और स्मरणशक्ति अद्भुत थी। छोटी उम्र में ही आगम, थोकड़े, संस्कृत, प्राकृत, मणित, ज्योतिष, काल्य, छन्द, अलंकार, व्याकरण आदि विविध विषयों का आधिकारिक ज्ञान प्राप्त कर लिया। प्रवचनशीली की ओजस्विता और प्रभावकता देखकर लोग आपश्री के प्रति आकृष्ट होते और यों सहज ही आपका वर्चस्व, तेजस्व बढ़ता गया।

वि. सं. १९८५ पौष वदि प्रतिपदा को गुरुदेव श्री बुधमलजी म. का स्वर्गवास हो गया। अब तो पूज्य रघुनाथजी महाराज की संप्रदाय का समस्त दायित्व आपश्री के कंधों पर आ गिरा। किन्तु आपश्री तो सर्वथा सुयोग्य थे। गुरु से प्राप्त संप्रदाय-परम्परा को सदा विकासोन्मुख और प्रभावनापूर्ण ही बनाते रहे। इस हृषि से स्थानांगसूत्र-विणित चार शिष्यों ( पुत्रों ) में आपको अभिजात ( अष्ठतम ) शिष्य ही कहा जायेगा, जो प्राप्त ऋद्धि-वैभव को दिन दूना रात चौगुना बढ़ाता रहता है।

वि. सं. १९९३, लोकाशाह जयन्ती के अवसर पर आपश्री की भूमरकेसरी पद से विभूषित किया गया। वास्तव में ही आपकी निर्भीकता और क्रान्तिकारी सिंह मर्जनाएँ इस पद की शोभा के अनुरूप ही थीं।

स्थानकवासी जैन समाज की एकता और संगठन के लिए आपश्री के भगीरथ प्रयास शमणसंघ के इतिहास में सदा अमर रहेंगे। समय-समय पर दृटी कड़ियां जोड़ना, संघ पर आये संकटों का दूरदृश्यता के साथ निवारण करना, संत-सतियों की आन्तरिक व्यवस्था को सुधारना, भीतर में उठती मतभेद की कटुता को दूर करना—यह आपश्री की ही क्षमता का नमूना है कि बहुत शमणसंघ का नियमित हुआ, विलारे घटक एक हो गये।

किन्तु यह बात स्पष्ट है कि आपने संगठन और एकता के साथ कभी सौदेबाजी नहीं की। स्वयं सब कुछ होते हुए भी सदा ही पद-भोग से दूर रहे। श्रमणसंघ का पदबी-रहित नेतृत्व आपश्री ने किया और जब सभी का पद-ग्रहण के लिए आवश्यक हुआ तो आपश्री ने उस नेतृत्व चादर को अपने हाथों से आचार्यसंग्राम (उस समय उपाचार्य) श्री आनन्दच्छिष्ठजी महाराज को ओढ़ा दी। यह है आपश्री की त्याग व निस्पृहता की वृत्ति।

कठोर सत्य सदा कटु होता है। आपश्री प्रारम्भ से ही निर्भीक बक्ता, स्पष्ट चिन्तक और स्पष्टवादी रहे हैं। सत्य और नियम के साथ आपने कभी समझौता नहीं किया, भले ही वर्षों से साथ रहे अपने कहलाने वाले साथी भी साथ छोड़ कर चले गये, पर आपने सदा ही संगठन और सत्य का पक्ष लिया। एकता के लिए आपश्री के अगमित बलिदान श्रमणसंघ के गौरव को युग-युग तक बढ़ाते रहेंगे।

संगठन के बाद आपश्री की अभिहन्ति काव्य, साहित्य, शिक्षा और सेवा के क्षेत्र में बढ़ती रही है। आपश्री की बहुमुखी प्रतिभा से प्रसूत सैकड़ों काव्य, हजारों पद-छन्द आज सरस्वती के शृंगार बने हुए हैं। जैन राम यशोरसायन, जैन पांडव यशोरसायन जैसे महाकाव्यों की रचना, हजारों कवित, स्तवन की सर्जना आपकी काव्यप्रतिभा के बेजोड़ उदाहरण हैं। आपश्री की आशुकवि-रत्न की पदबी स्वयं में सार्थक है।

कर्मग्रन्थ (छह भाग) जैसे विशाल गुरुगम्भीर ग्रन्थ यह आपश्री के निदेशन में व्याख्या, विवेचन और प्रकाशन हुआ जो स्वयं में ही एक अदृठा कार्य है। आज जैनदर्शन और कर्मसिद्धान्त के सैकड़ों अध्येता उनसे लाभ उठा रहे हैं। आपश्री के साम्रिध्य में ही पञ्चसंग्रह (दस भाग) जैसे विशालकाव्य कर्मसिद्धान्त के अतीव गहन ग्रन्थ का सम्पादन विवेचन और प्रकाशन प्रारम्भ हुआ है, जो वर्तमान में आपश्री की अनुपस्थिति में आपश्री के सुयोग्य शिष्य श्री सुकनमुनि जी के निदेशन में सम्पन्न हो रहा है।

प्रथमन, जैन उपन्यास आदि की आपश्री की पुस्तकें भी अत्यधिक लोकप्रिय हुई हैं। लगभग ६-७ हजार पृष्ठ से अधिक परिमाण में आपश्री का साहित्य आका जाता है।

शिक्षा क्षेत्र में आपश्री की दूरदृशिता जैन समाज के लिए वरदान-स्वरूप सिद्ध हुई है। जिस प्रकार महामना मालवीय जी ने भारतीय शिक्षा क्षेत्र में एक नई क्रांति—नया विज्ञानदर्शन देकर कुछ अमर स्थापनाएँ की हैं, स्थानकवासी जैन समाज के शिक्षा क्षेत्र में आपको भी स्थानकवासी जगत का 'मालवीय' कह सकते हैं। लोकाशाह गुरुकुल (साधु), राणावास की शिक्षा संस्थाएँ, जयतारण आदि के छात्रावास तथा अनेक स्थानों पर स्थापित पुस्तकालय, बाचनालय, प्रकाशन संस्थाएँ इत्यादि और साहित्य-सेवा के हेतु में आपश्री की अमर क्रांति गाथा गा रही है।

लोक-सेवा के क्षेत्र में भी महाराकेसरो जी महाराज भामाशाह और खेमा देवराणी की शुभ परम्पराओं को जीवित रखे हुए थे। फर्क यही है कि वे स्वयं धनपति थे, अपने धन को दान देकर उन्होंने राष्ट्र एवं समाज-सेवा की, आप एक अकिञ्चन श्रमण थे, अतः आपश्री ने धनपतियों को प्रेरणा, कर्तव्य-बोध और मार्यदर्शन देकर मरुधरा के गांव-गांव, नगर-नगर में सेवाभावी मस्थाओं का, सेवामुक प्रवृत्तियों का व्यापक जाल बिछा दिया।

आपश्री की उदारता की गाथा भी संकटों व्यक्तियों के मुख से मुनी जा सकती है। किन्हीं भी संत, सतियों को किसी वस्तु की, उपकरण आदि की आवश्यकता होती तो आपश्री निसंकोच, बिना किसी भेदभाव के उनको सहयोग प्रदान करते और अनुकूल साधन-सामग्री की व्यवस्था करते। साथ ही जहाँ भी पधारते वहाँ कोई रुण, वसहाय, अपाहिज, जरूरतमन्द गृहस्थ भी (भले ही वह किसी दर्जे, समाज का हो) आपश्री के घरणों में पहुंच जाता तो आपश्री उसकी दयनीयता से द्रवित हो जाते और तत्काल समाज के समर्थ व्यक्तियों द्वारा उनकी उपयुक्त व्यवस्था करा देते। इसी कारण गांव-गांव में

किसान, कुम्हार, ब्राह्मण, सुनार, माली आदि सभी कीम के व्यक्ति आपश्ची को राजा कर्ण का अवतार मानने लग गये और आपश्ची के प्रति श्रद्धावन्त रहते। यही है सच्चे संस की पहचान, जो किसी भी भेदभाव के बिना भानवमात्र की सेवा में रुचि रखे, जीवमात्र के प्रति करुणाशील रहे।

इस प्रकार त्याग, सेवा, संगठन, साहित्य आदि विविध क्षेत्रों में सतत प्रवाहशील उस अजार-अमर यशोधारा में अवगाहन करने से हमें मरुधरके पारी जी व० के अद्वितीय व्यक्तित्व की स्पष्ट अनुभूतियां होती हैं कि कितना विराट्, उदार, व्यापक और महान् था वह व्यक्तित्व !

श्रमणसंघ और मरुधर के उस महान् संत की छत्र-छाया की हमें आज बहुत अधिक आवश्यकता थी किन्तु भाग्य की विडम्बना ही है कि विगत वर्ष १७ जनवरी, १९८४, वि० सं० २०४०, पौष सुदि १४, मंगलवार को वह दिव्यज्योति अपना प्रकाश विकीर्ण करती हुई इस घराधाम से ऊपर उठकर अनन्त असीम में लीन हो गयी थी।

पूज्य मरुधरके सरी जी के स्वर्गवास का उस दिन का हश्य, शव-यात्रा में उपस्थित अगणित जनसमुद्र का चिन्ह आज भी लोगों की स्मृति में है और शायद शताब्दियों तक इतिहास का कीर्तिमान बनकर रहेगा। जैतारण के इतिहास में क्या, सम्भवतः राजस्थान के इतिहास में ही किसी सन्त का महाप्रथाण और उस पर इतना अपार जन-समूह (सभी कौमों और सभी वर्ण के) उपस्थित होना यह पहली घटना थी। कहते हैं, लगभग ७५ हजार की अपार जनसेविनी से संकुल शव-यात्रा का वह जलूस लगभग ३ किलोमीटर लम्बा था, जिसमें लगभग २० हजार तो आस-पास व गांवों के किसान बंधु ही थे, जो अपने टूंकटरों, बैलगाड़ियों आदि पर चढ़कर गये थे। इस प्रकार उस महापुरुष का जीवन जितना व्यापक और विराट् रहा, उससे भी अधिक व्यापक और अद्वा परिपूर्ण रहा उसका महाप्रथाण !

उस दिव्य पुरुष के शोचरणों में शत-शत वन्दन !

— श्रीचन्द्र सुराना 'सरस'

## धर्मप्रेमी गुरुभक्त सुश्रावक

स्व. श्रीमान पारसमलजी मुथा (रायचूर)

श्रीमान पारसमलजी साहब मुथा मूलतः मादलिया निवासी थे। आपके पिता श्रीमान हस्तीमलजी साहब मुथा बड़े ही धार्मिक व प्रभाशाली व्यक्ति थे। पिता जी के धार्मिक संस्कार आप में भी प्रादुर्भूत हुये। आप धर्म एवं समाज-सेवा दोनों ही क्षेत्रों में सदा सक्रिय रहे। खूब उदार हृदय से दान देना, समाज सेवा करना, तथा अन्य शुभ क्षेत्रों में लक्ष्मी का सदुपयोग करना आपकी सहज वृत्ति थी। आप हृदय से बहुत ही सरल, स्वभाव से विनाश, और गुरुशेष जी के प्रति अत्यन्त भक्तिमान् थे। स्व. गुरुदेव श्री महावरकेसरीजी महाराज के प्रति आपकी अत्यन्त थ्रद्धा भक्ति थी। महावरकेसरी गुरु-सेवा समिति के आप अध्यक्ष भी रह चुके थे। आप दोषकाल तक रायचूर संघ के सभापति रहे, अ. भा. इवेलाम्बर स्थानकवासी जैन कांफेस के भी आप पदाधिकारी रहे तथा अनेक सामाजिक संगठनों के आप अधिकारी पद पर रहे।

रायचूर (कर्नाटक) में आपका व्यवसाय है। मैं० कालूराम हस्तीमल नाम से आपकी फर्म की दूर-दूर तक प्रसिद्धि है।

आपकी तरह आपकी संतान भी दान, समाजसेवा एवं गुरुभक्ति में अग्रणी है। अनेक साहित्य प्रकाशन कार्यों में आपका महत्वीय सहयोग मिलता रहा है। प्रस्तुत प्रकाशन में भी आपके परिवार की तरफ से पूर्ण अर्थ सहयोग मिला है। धन्यवाद !



## गुरुभक्त सुश्रावक श्रीमान् सोनराजजी सा०

### मुथा (गंगावती)

आप मादलिया निवासी श्रीमान् जैवंतराजजी सा० मुथा के सुपुत्र हैं। आपने परिधमपूर्वक लक्ष्मी उपाजेन की और समाज के सभी क्षेत्रों में उसका सदृश्योग किया। आप सरल हृदय के धर्मप्रेसी श्रावक हैं। शुष्कदान तथा अतिथि-सेवा में आपको विशेष रुचि है। रब गुरुदेव श्री महधर के सरीजी महाराज के प्रति आपके हृदय में सदा ही असीम आस्था रही है। सेवा क्षेत्र में आपका उत्साह सभी के लिए प्रेरणादायी है।

आप गंगावती (कन्टटिक) के प्रसिद्ध उच्चोनपति हैं। सरस्वती ट्रैडिंग कंपनी गंगावती, नाम से आपकी कर्म अपनी नीतिमत्ता व कुशल व्यवसाय के कारण सुप्रतिष्ठित है।

प्रस्तुत प्रकाशन में आपकी तर्फ से उदार अर्थ सहयोग प्राप्त हुआ है। हम आपके धर्मस्थ सुखी दीर्घजीवन को शुभकामना करते हुए आशा करते हैं कि आप इसी प्रकार सदा धर्म एवं समाज की महान् सेवाएँ करते रहें। □

— मंत्री

प्रकाशन समिति

# प्राक्कथन

यह अधिकार, जैसा कि नाम से स्पष्ट है, कर्म-सिद्धान्त विवेचना से संबन्ध रखता है। इस अधिकार के पूर्व योगोपयोगमार्गणा और बंधक इन दो अधिकारों का वर्णन किया जा सका है। जिनसे यह जात हो जाता है कि जो उपयोगनिष्ठ हैं, वे तो कभी भी बंधक होने की योग्यता वाले नहीं होते हैं, लेकिन जो जीव उपयोगवाल होने के साथ अभी योग से संबद्ध हैं, वे जीव अवश्य बंध करते रहेंगे। अतः योगोपयोगयुक्त जीवों द्वारा जो बंधयोग्य है, इसका विवेचन प्रस्तुत अधिकार में किया गया है। बंधयोग्य है कर्म, इसलिये यहाँ कर्म के बारे में कुछ प्रकाश ढालते हैं।

संसारस्थ प्राणियों में जो और जैसी विषमतायें व विचित्रतायें दिखती हैं, उन सबका कारण उन जीवों के मूल स्वभाव/स्वरूप से भिन्न विज्ञतीय पदार्थ का संयोग है। जिसके लिये दर्शनवादास्त्र में कर्म शब्द का प्रयोग किया है। इस कर्म के कारण ही संसार के चराचर प्राणियों में विचित्रतायें देखी जाती हैं। इस सिद्धान्त को सभी आत्मवादी दर्शनों ने एकमत से स्वीकार किया है। इस में किसी भी प्रकार से किन्तु, परन्तु के लिये अवकाश नहीं है। अनात्मवादी बौद्धशर्णन का भी यही अभिमत है। ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी दार्शनिक भी इसमें प्रायः सहमत हैं।

इस प्रकार की एकमतता होने पर भी कर्म के स्वरूप और उसके कलदान के संबन्ध में मतभिन्नतायें हैं। सामान्य तौर पर तो जो कुछ भी किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं। जैसे कि खाना-पीना-चलना-फिरना इत्यादि। साधारणतया परलोकवादी दार्शनिकों का अभिमत

है कि हमारा प्रत्येक अच्छा या बुरा कार्य/क्रिया/प्रवृत्ति/कर्म अपना संस्कार छोड़ जाता है। जिसे नैयायिक-वैज्ञानिक धर्म-अधर्म के नाम से, योग कर्मशाय के नाम से, बीदू अनुशाय, वेदान्त वासना आदि के नाम से पुकारते हैं। यह संस्कार आदि फलकाल तक स्थायी रहते हैं और क्रिया/कर्म/प्रवृत्ति क्षणिक होती है। परन्तु इन दोनों का कुछ ऐसा संबन्ध जुड़ा हुआ है कि संस्कार आदि से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति आदि से संस्कार आदि की परंपरा अनादिकाल से चली आ रही है। इसी का नाम संसार है।

इस संबन्ध में बौद्धवर्णन का अभिमत है—अविद्या के होने से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नाम और रूप, नाम और रूप से लह आयतन, लह आयतन संसर्ण स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जन्म, जन्म से बुद्धापा, भरता, शोक, रोना-पीटना, दुःख, वेचनी, परेशानी होती है। इस प्रकार दुखों की परंपरा का प्रारम्भ कब और कहाँ से हुआ? इसका पता नहीं है।

योगदर्शन में लिखा है—पांच प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं। जो किलष्ट भी होती हैं और अकिलष्ट भी होती हैं। क्लेश की कारणभूत वृत्तियों को किलष्ट कहते हैं और वे कर्मशाय के संचय के लिये आधार-भूत होती हैं। किलष्ट और अकिलष्ट जातीय संस्कार वृत्तियों द्वारा होते हैं और वृत्तियाँ संस्कार से होती हैं। इस प्रकार से वृत्ति और संस्कार का चक्र सर्वदा चलता रहता है।

सांख्यकारिका का सकेत है—धर्म और अधर्म को संस्कार कहते हैं। इसी के निमित्स से शरीर बनता है। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होने पर धर्मादिक पुनर्जन्म करने में समर्थ नहीं रहते हैं, किन्तु भी संस्कार की वजह से पुरुष संसार में रहता है। जैसे कुलाल के दंड का संबन्ध दूर हो जाने पर भी संस्कार के बश से चक्र घूमता रहता है। क्योंकि कल दिये गिना संस्कार का क्षय नहीं होता है।

प्रशस्तपाद और न्यायमंजरीकार का भी ऐसा ही मतव्य है.....अधर्म सहित प्रवृत्ति मूलक धर्म से देव, मनुष्य, लिंगच और नारकों में (जन्म लेकर) बारंबार संसार बंध की करता रहता है। .....संसार में ऐसा कोई कार्य नहीं है जो धर्म या अधर्म से व्याप्त न हो।

विभिन्न दार्शनिकों का कर्म के सम्बन्ध में उक्त प्रकार का टूटिकोण है। उसके अतिरिक्त वैशेषिक आदि कर्म की चेतननिष्ठ मानकर उसे चेतनधर्म बताते हैं और सांख्य-योग उसे अन्तःकरण स्थित मानकर जड़धर्म कहते हैं।

कर्म को मानते हुए भी उन उन दर्शनों में कर्म के स्वरूप को लेकर इतनो मतभिन्नतायें होने का कारण यही है कि उन्होंने कर्मसिद्धान्त का विहृगावलोकन करने तक अपने आपको सीमित कर लिया। लेकिन जैनदर्शन के अनुसार कर्म का स्वरूप उक्त भौतिकों से भिन्न है। उसने कर्म का स्वरूप एकान्ततः न तो चेतननिष्ठ और न अचेतननिष्ठ माना है। अपनी प्रक्रिया के अनुसार कर्म को चेतन और जड़ उभय के परिणामरूप से उभयरूप माना है। इसी कारण जैनदर्शन के अनुसार कर्म के दो प्रकार हैं—१ द्रव्यकर्म और २ भावकर्म।

यथापि अन्य दर्शनों में भी इस प्रकार का विभाग पाया जाता है और भावकर्म की तुलना अन्यदर्शनों के संस्कार के साथ और द्रव्यकर्म की तुलना योगदर्शन की वृत्ति और न्यायदर्शन की प्रवृत्ति के साथ की जा सकती है। तथापि जैनदर्शन और अन्य दर्शनों के मान्य कर्म के स्वरूप में बहुत अन्तर है। जैनदर्शन ने कर्मों को केवल एक संस्कार मात्र ही नहीं माना है किन्तु वह एक वस्तुभूत, यथार्थ पदार्थ भी है जो राग द्वेषयुक्त जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ उसी तरह एकमेक घुल-मिल जाता है, जैसे दूध और पानी। वह पदार्थ है तो भाँतिक, किन्तु उसका कर्म नाम इसलिये है कि वह जीव के अस्तित्व

क्रिया के कारण आवृष्ट होकर जीव के साथ संबद्ध होता है। जो भौतिक पदार्थ कर्मरूप परिणत होता है, उसे शास्त्रीय शब्दों में पुद्गल कहते हैं। वह पुद्गल द्रव्य तेईस प्रकार की वर्गणाओं में विभक्त है। वे सभी वर्गणायें कर्मरूप में परिणत नहीं होती हैं किन्तु उन वर्गणाओं में से एक कार्मणवर्गण भी है, जो समस्त लोक में ड्याप्ल है। वह कार्मणवर्गण ही जीवों के कर्म का निमित्त पाकर कर्मरूप परिणत हो जाती है और ज्ञानावरण आदि विभिन्न नामों को धारण करती है। यथा—

परिणमदि जबा अप्या मुहूर्मि असुहूर्मि रागबोसतुदो ।

तं पवित्रि कर्मरूपं ज्ञाणावरणादिभावेऽहि ॥

— प्रवचनसार गा. ६

अर्थात् जब राग-द्वेष से युक्त आत्मा अच्छें या बुरे कार्मों में लगता है तब कर्मरूपी रज ज्ञानावरणादि रूप से उसमें प्रवेश करता है।

इस प्रकार जैनसिद्धान्त के अनुसार कर्म एक मूलिक पदार्थ भी है, जो जीव के साथ बंध को प्राप्त हा जाता है। आशय यह हुआ कि जहाँ अन्यदर्शन राग और द्वेष से आविष्ट जीव की प्रत्येक क्रिया को कर्म कहते हैं और उस कर्म को क्षणिक होने पर भी तजञ्य सङ्कार को स्थायी मानते हैं, वहाँ जैनदर्शन का अभिमत है कि राग-द्वेष-आविष्ट जीव की प्रत्येक क्रिया के साथ एक प्रकार का भौतिक द्रव्य आत्मा में आता है जो उसके रागद्वेष रूप परिणामों का निमित्त पाकर आत्मा से संबन्धित हो जाता है और जब तक वह द्रव्य आत्मा से संबद्ध रहता है, कालान्तर में वही आत्मा को शुभ या अशुभ फल देता है।

यह क्रम कब से चला आ रहा है? तो इसके लिये आचार्यों ने संकेत किया है—जो जीव संसार में स्थित है, उनके राग और द्वेष रूप भाव होते हैं और उन भावों से कर्म और कर्म से भाव होते हैं—

जीव परिणामहेतुं कर्मस् तुगला परिवर्त्ति ।

तुगलकम्भिगिरिल्लं तहेव जीवोऽवि परिणामवि ॥

— समयप्राभृत गा. ६६

यह प्रवाह जीव के दो प्रकारों में से अभव्य की अपेक्षा अनादि-अनन्त है और अब्य जीवों की अपेक्षा अनादि-सान्त है ।

उपर्युक्त कथन से ऐसा कहा जा सकता है कि कर्म के द्रव्य और भाव ये दो भेद जैनदर्शन में माने गये हैं । लेकिन ये भेद नहीं हैं, दो प्रकार हैं । इन दो प्रकारों को कहने का कारण यह है कि जैसे जीव और उसके भावों का भौलिक अस्तित्व है उसी प्रकार कर्म का भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है, वह एक सद्भूत पदार्थ है । वास्तव में तो शास्त्रकारों ने कर्म के भेद दो हृष्टियों से किये हैं—विपाक की हृष्टि से और विपाककाल की हृष्टि से । कर्म का विपाक—फलबेदन किस-किस रूप में होता है और कब होता है, प्रायः इन्हीं की मुख्यता को लेकर भेद किये गये हैं । जैसा कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि कर्म के नामों से स्पष्ट हो जाता है । इन नामों को सुनते ही यह समझ में आ जाता है कि कर्म जीव के ज्ञान आदि गुणों को आच्छादित करने रूप में अपना फल प्रदर्शित करते हैं ।

यद्यपि कर्म के भेदों का साधारणतया उल्लेख तो प्रायः प्रत्येक आत्मवादी दर्शन में किया गया है । किन्तु जैनेतर दर्शनों में से योगदर्शन और बौद्धदर्शन में ही कर्मशिय और उसके विपाक का कुछ वर्णन किया गया है तथा विपाक एवं विपाककाल की हृष्टि से कुछ भेद भी गिनाये हैं । परन्तु जैनदर्शनगत सर्वांगीण वर्णन की तुलना में वह वर्णन नगण्य—न कुछ जैसा है । क्योंकि जैनदर्शन में कर्म और उसके भेदों की परिभाषाएँ स्थिर कीं । कार्य-कारण की हृष्टि से कर्मतत्त्व का विविध प्रकार से वर्णिकरण किया, कर्म की फलदान शक्तियों का विवेचन किया । विपाकों की काल मर्यादाओं का विचार किया, आत्म-परिणामों के कारण उनमें क्या-क्या रूपान्तरण आदि हो सकते हैं, कर्मों के पारस्परिक सम्बन्धों का विचार किया, कौन कर्मभेद जीव-

गुणों के साक्षात् रूप में थातक हो सकते हैं और कौन उनके सहयोगी होकर जीव को सांसारिक अवस्थागत शरीर, इन्द्रियों के निमणि में कारण हो सकते हैं, इत्यादि रूप से सांगोपांग वर्णन जैन कर्मसिद्धान्त में किया गया है। लेकिन ऐसा समग्रता का प्रदर्शक वर्णन दर्शनात्मकों के ग्रन्थों में देखने को नहीं मिलता है। जो निम्नांकित वर्णन से स्पष्ट हो जाता है।

अच्छा कर्म और बुरा कर्म इस प्रकार कर्म के दो भेद तो सभी जाते हैं। लोकव्यवहार में कर्म के इसी रूप में भेद समझे जाते हैं और इन्हें ही विभिन्न शास्त्रकारों ने शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप, कुशल-अ-कुशल, शुक्ल-कृष्ण, श्रेष्ठ-कनिष्ठ आदि नामों से कहा है। ये भेद भी किसी विशेष अर्थ को स्पष्ट करते हैं, ऐसे नहीं हैं, मात्र एक लोक-ख़ड़ी की पूति करते हैं। इसके सिवाय भी विभिन्न दर्शनकारों ने विभिन्न दृष्टियों से कर्म के भेद किये हैं। जैसे कि गीता में सात्त्विक, राजस और तामस भेद पाये जाते हैं, जो पूर्वोक्त भेदों में ही गमित हो जाते हैं। वैदान्तदर्शन में कर्म के प्रारब्ध कार्य और अनारब्ध कार्य ये दो भेद किये हैं। योगदर्शन में कर्मशाय के दो भेद किये हैं—हठ-जन्मवेदनीय, अहृष्ट-जन्मवेदनीय। जिस जन्म में कर्म का संचय किया है, उसी जन्म में यदि वह फल देता है तो उसे हठ-जन्मवेदनीय कहते हैं और यदि दूसरे जन्म में फल देता है तो उसे अहृष्ट-जन्मवेदनीय कहते हैं। फिर दोनों में से प्रत्येक के दो भेद और किये हैं—नियत विपाक, अनियत विपाक। बौद्धदर्शन में कर्म के भेद कई प्रकार से गिनाये हैं। जैसे कि सुखवेदनीय, दुःखवेदनीय और न दुःख-सुखवेदनीय तथा कुशल, अकुशल और अव्याकृत। किन्तु दोनों के आशय में अन्तर नहीं है, एक ही है—जो सुख का अनुभव कराये, जो दुःख का अनुभव कराये और जो न दुःख का और न सुख का अनुभव कराये। प्रथम तीन भेदों के भी दो भेद हैं—एक नियत और दूसरा अनियत। नियत के तीन भेद हैं—हठधर्मवेदनीय, उपपथवेदयोन

और अपरपर्याप्तवेदनीय । अनियत के दो भेद हैं—विवाककाल अनियत और अनियत विषाक । वृष्टिशर्मवेदनीय के दो भेद हैं—सहसा-वेदनीय और असहसा-वेदनीय । शेष भेदों के भी चार भेद हैं—विषाक-कालनियत, विषाक-अनियत, विषाकनियत, विषाक-कालअनियत, जियत-विषाक, नियतवेदनीय और अनियत-विषाक अनियतवेदनीय ।

इस प्रकार से दर्शनात्मकों में कर्म के भेद किये गये हैं । बीद्वदशीन के भेदों में फलदान की हृषिट से भी कर्म के कुछ भेदों का संकेत किया है लेकिन अपेक्षित स्पष्टता का अभाव है । बीद्व के अतिरिक्त अन्य वैदिक दर्शनों में साधारणतया फलदान की हृषिट से कर्म के संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण ये तीन भेद किये जाते हैं । किसी के द्वारा इस क्षण किया गया हो या पूर्व जन्म में वह सब संचित कहा जाता है । संचित का अपर नाम आकृष्ट और मीमांसकों के अनुसार अगुर्व है । संचित में से जितने कर्मों के फलों को भोगना पहले शुरू होता है, उनमें को ही प्रारब्ध कहते हैं । क्रियमाण का अर्थ है जो कर्म अभी हो रहा है । परन्तु यह प्रारब्ध का ही परिणाम होने से लोकमान्य तिलक ने स्वीकार नहीं किया है ।

अब जैनदर्शन की हृषिट से कर्म के भेदों आदि के लिए संक्षेप में विचार करते हैं ।

जैसा कि प्रारम्भ में बताया जा चुका है कि जैनदर्शन में कर्म से आशय संसारी जीव की क्रिया के साथ-साथ उसकी ओर आकृष्ट होने वाले कार्मणवर्गणा रूप भौतिक पदार्थ से है । वे कार्मणवर्गणा के परमाणु जीव की प्रत्येक क्रिया के समय आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं । इन को आकर्षित करने में कारण है जीव की योगशक्ति । इस योगशक्ति द्वारा आकृष्ट हुए कर्मपरमाणु जीव के द्वारा राग-द्वेष, मोह आदि भावों का, जिन्हें जैनदर्शन में कषाय कहते हैं, निवित पाकर आत्मा से बंद जाते हैं । इस तरह कर्मपरमाणुओं के आत्मा तक लाने का कार्य योगशक्ति और बन्ध कराने का कार्य कषाय—रागद्वेष रूप भाव करते हैं । यदि कषाय नष्ट ही जाये तो योग के रहने तक कर्मपरमाणुओं

का आलब्र तो हो सकता है किन्तु कषाय के अभाव में वे वहाँ ठहर नहीं सकेंगे। जिसको इस प्रकार समझा जा सकता है—योग वायु-स्थानीय है, कषाय गोद या अन्य कोई चिपकाने वाला पदार्थ है और कर्म-परमाणु धूलिरूप हैं तथा जीव मकान रूप हैं। अतएव यदि वायु होगी तो मकान में धूलिकण अधिक से अधिक प्रवेश करेंगे और यदि मकान में चिपकाने वाला पदार्थ लगा है तो वे धूलिकण वहाँ आकर चिपक जायेंगे। यदि वायु और चिपकाने वाले पदार्थ की तीव्रता-प्रचुरता है तो धूलिकण अधिक आकर अधिक मात्रा में और अधिक समय तक चिपकेंगे और मदता है तो उसी परिमाण में उनका रूप होगा। यही बात योग और कषाय के बारे में जानना चाहिये। योगशक्ति जिस स्तर की होगी, आकृष्ट होने वाले कर्म परमाणुओं का परिमाण भी उसी के अनुसार होगा और इसी तरह कषाय यदि तीव्र होती है तो कर्मपरमाणु आत्मा के साथ अधिक समय तक बंधे रहते हैं और फल भी तीव्र ही देते हैं। इसके विपरीत अल्प योग और कषाय के कारण अल्प कर्मपरमाणु बंधते हैं और फल भी मंद देते हैं। सारांश यह हुआ कि योग और कषाय जीव के पास कर्म परमाणुओं के लाने और फल देने के कारण हैं तथा योग के द्वारा कर्म परमाणुओं का स्वभाव नियमित होता है तथा प्रदेशसंचय होता है तथा कषाय के द्वारा आत्मा के साथ कर्म परमाणुओं के बंधे रहने की कालमयदा और फलदान शक्ति का निष्परिण होता है। इस सबको शास्त्रीय शब्दों में प्रकृतिबंध, स्थिति-बंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध कहते हैं। स्वभाव को प्रकृति, बंधने वाले कर्म परमाणुओं की संख्या को प्रदेश, काल की मयदा को स्थिति और फलदानशक्ति को अनुभाग कहते हैं।

इन बंधों में से प्रकृतिबंध के आठ भेद हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, शोश्र और अंतराय। ज्ञानावरण आत्मा के ज्ञान गुण को आच्छादित-धारता है। दर्शनावरण आत्मा के दर्शनगुण का धारत करता है। वेदनीय सांसारिक सुख-दुःख का वेदन-

अनुभव करता है। योहनीय आत्मा को मोहित करता है, उसे यथार्थ का भान नहीं होने देता है और यदि भान हो भी जाये तो तदनुसार यथार्थ पार्ग पर चलने नहीं देता है। आयुकर्म अमुक समय तक जीव को किसी एक शरीर में रोके रहता है और छिन्न हो जाने पर शरीरान्तर को घ्रहण करने की ओर जीव उन्मुख होता है। नाभकर्म के कारण शरीर, इन्द्रियों आदि की रचना होती है। शीत जीव को उच्चनीच कुल का कहलाने का कारण है और अन्तरायकर्म के कारण इच्छित वस्तु की प्राप्ति में विष्णु पड़ता है। फिर इन आठ कर्मों के उत्तर भेद किये हैं। सरलता से समझाने के लिए जिनकी संख्या एक सौ अड़तालीस या एक सौ अट्ठावन मानी है। इन आठ कर्मों और उनके उत्तर भेदों का विवार करना प्रस्तुत अधिकार का वर्णविषय है।

जैनदर्शन में वर्णित इन भेदों की तुलना के योग्य कर्म कोई भेद वर्णनात्मकरों में नहीं पाये जाते हैं। यद्यपि योगदर्शन में कर्म का विपाक तीन रूपों में बताया है—जन्म, आयु, और भोग, किन्तु अमुक कर्म जन्म, अमुक कर्म आयु और अमुक भोग के रूप में फल देता है, यह बात नहीं बताई है। यदि इनकी तुलना जैनदर्शन गत कर्मभेदों से करें तो आयुविपाक वाले कर्मशय की आयुकर्म से और जन्मविपाक वाले कर्मशय की नाभकर्म से तुलना की जा सकती है। किन्तु यहाँ तो इतना ही संकेत है कि सभी कर्मशय मिलकर तीन रूप फल देते हैं, इत्यादि। इस विषय में विस्तृत विवेचन अपेक्षित है। किन्तु यहाँ तो संकेत भाज करना पर्याप्त होने से विशेष लिखने का अवकाश नहीं है।

योगदर्शन में जो कर्मशय का विवाक तीन रूपों में बताया है वे कर्म की विविध अवस्थायें हो सकती हैं। जैनदर्शन में इन अवस्थाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। वे अवस्थायें इस हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—

बन्ध, संक्रमण, उद्वर्तन, अपवर्तन, उदीरणा, उपचाम, निघति, निकालना, उदय और सत्ता । इन दस अवस्थाओं में आदि की आठ अवस्थाओं के निर्माण के हेतु जोब परिणाम है और अन्तिम दो में बढ़ कर्मपरमाणु हेतु है । इसका विस्तृत वर्णन आगे के अधिकारों में किया जा रहा है । जिससे स्पष्ट और विद्याद जानकारी हो सकेगी । इसके अतिरिक्त जैनदर्शन में कर्म का स्वामी, कर्म की शिथि, वाव कौन प्रकृति बन्धती है, किसका उदय होता है, किसकी सत्ता रहती है किसका क्षय होता है, आदि कर्म विषयक प्रत्येक अंग का वर्णन किया है ।

अन्य दर्शनों में कर्म विषयक चर्चा का संकेत भाव हीमे का कारण वह है कि उन्हींने छहकीं कोई स्वतंत्र विषय नहीं समझा, जिससे उसकी चर्चा के लिये साहित्यनिर्माण की ओर ध्यान नहीं दिया । लेकिन जैनदर्शन अध्यात्मवादी दर्शन है । आत्मा के विकास, आत्मा के शुद्ध स्वरूप का वर्णन करना उसका लक्ष्य है और आत्मा के विकास और शुद्ध स्वरूप का वर्णन तभी किया जा सकता है जबकि अवरोधक कारणों का ज्ञान हो जाये और अवरोधक कारण हैं कर्म । इसीलिये जैनदर्शन में कर्म का विस्तार से वर्णन किया है । जैनसाहित्य में कर्म विषयक साहित्य का स्वतन्त्र और महस्त्रपूर्ण स्थान है ।

इस प्रकार से कर्म सम्बन्धी वित्तिय बिन्दुओं पर प्रकाश डालने के अन्तर अब अधिकार के वर्ष विषय के लिये संक्षेप में प्रकाश डालते हैं ।

### विषयप्रबोध

अधिकार को प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम कर्मों की मूल प्रकृतियों का और उसके बाद प्रत्येक की उत्तर प्रकृतियों की संख्या का निर्देश किया है । तत्पश्चात् प्रत्येक कर्म की उत्तर प्रकृतियों के नाम और लक्षण बतलायी हैं । यथाप्रसंग सम्बन्धित प्रश्नों का समाधान भी किया है । यह सब वर्णन आदि को तेरह गायाओं में है ।

इसके पश्चात् उत्तर प्रकृतियों के वर्गीकरण की संज्ञाओं के नाम देकर प्रत्येक संज्ञा में गम्भीर प्रकृतियों के नाम और गम्भीर करने के कारण को स्पष्ट किया है। यह सब विचार चौदह से चौबीस गाथा तक में किया है।

तत्पश्चात् गाथा पच्चीस से प्रकृतियों में संभव भावों और उसके सद्भाव से जन्य गुणों का उल्लेख कर भावों संबन्धी कलिपथ जिज्ञासाओं का समाधान किया है। फिर देश सर्वधाति रसस्पर्षकों को बताया है। रसस्थानबंध के हेतु प्रकारों को स्पष्ट करने के अनन्तर शुभाशुभ रस को उपमित किया है। इसी के बीच द्वुवर्णधी आदि संज्ञाओं के लक्षण आदि का निरूपण किया है और हेतुविपाका प्रकृतियों विषयक प्रक्षनों की मीमांसा की है तथा प्रासंगिक रूप में सम्बन्धित अन्य विषयों का भी वर्णन किया है। जो गाथा चौबीस में जा कर पूर्ण हुआ है।

तदनन्तर एक दूसरे प्रकार से भी प्रकृतियों के वर्गीकरण की संज्ञाओं के नामों के लिए अन्यकर्तुंक गाथा देकर उन वर्गों में प्रकृतियों के नामों और प्रहृण करने के कारण को स्पष्ट किया है। यह वर्णन गाथा छियासठ तक में पूर्ण हुआ है और इसके साथ ही अधिकार भी पूर्ण हुआ।

इस संक्षिप्त रूपरेखा में बंधवध संबन्धी प्रायः सभी विषयों का समावेश हो गया है। विस्तार से समझने के लिये पाठकगण अधिकार का अध्ययन करें, यह अपेक्षा है।

— देवकुमार जैन

## विषयानुक्रमणिका

<b>गाथा १</b>		
सूल कर्मप्रकृतियों के नाम		४
सूल कर्मप्रकृतियों के लक्षण		४
ज्ञानावरणादि का क्रमविभास		७
<b>गाथा २</b>		१०—११
कर्मों की उत्तर प्रकृतियों की संख्या		१०
<b>गाथा ३</b>		११—१४
ज्ञानावरणकर्म की उत्तर प्रकृतियाँ एवं उनके लक्षण		१२
अन्तरायकर्म की उत्तर प्रकृतियाँ एवं उनके लक्षण		१२
<b>गाथा ४</b>		१४—१६
दर्शनावरणकर्म की उत्तर प्रकृतियों के चार, छह और नौ भेद की विवक्षा का कारण		१५
चक्षुदर्शनावरण आदि के लक्षण		१५
निद्राओं को दर्शनावरण में श्रहण करने का कारण		१६
<b>गाथा ५</b>		१६—२८
मोहनीय की उत्तर प्रकृतियों की संख्या		१६
कषायमोहनीय प्रकृतियों के नाम व लक्षण		१७
अनन्तानुबंधि आदि कषायों सम्बन्धी हृष्टान्त		२१
नोकषायों को कषायसहचारी मानने का कारण		२२
नव नोकषायों के नाम व उनके लक्षण		२३

दर्शनभोगीय के भेद व उनके लक्षण	२५
आयु, वेदनीय और गोत्र कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ व उनके लक्षण	२६
 गाथा ६	 २८—४०
नामकर्म की पिण्ड प्रकृतियों के नाम	२८
गतिनामकर्म के भेद व उनके लक्षण	२८
जातिनामकर्म के भेद व उनके लक्षण	२९
शरीरनामकर्म के भेद व उनके लक्षण	३०
अंगोपांगनामकर्म के भेद व उनके लक्षण	३२
बंधननामकर्म का लक्षण	३३
संशातननामकर्म का लक्षण	३३
संहनननामकर्म के भेद व उनके लक्षण	३३
संस्थाननामकर्म के भेद व उनके लक्षण	३४
वर्णचतुष्क के भेद व उनके लक्षण	३६
आनुपूर्वीनामकर्म के भेद व उनके लक्षण	३८
विहायोगतिनामकर्म के भेद व उनके लक्षण तथा	३९
विहायस् शब्द की उपयोगिता	४१
 गाथा ७	 ४०—४३
आठ अप्रतिपक्ष प्रत्येक प्रकृतियों के नाम व उनके	४०
लक्षण	
उच्छ्वास नामकर्म को मानने में हेतु	४२
 गाथा ८	 ४३—५४
सप्रतिपक्ष बीस प्रत्येक प्रकृतियों के नाम	४४
व्रसदशक और स्थावरदशक में गमित प्रकृतियों के	४४
नाम	
प्रतिपक्ष सहित बीस प्रकृतियों के लक्षण	४५

प्रत्येक और साधारण नामकर्म विषयक शंका-समाधान	४७
शुभ और अशुभ नामकर्म सम्बन्धी शंका-समाधान	५१
गाथा ६	५४—५५
पिण्ड प्रकृतियों के अवान्तर भेदों की संख्या	५६
गाथा ७	५५—५७
ब्रह्म, उदय और सत्ता में प्रकृतियों की संख्याभिन्नता का विवरण कारण	५८
गाथा ८	५८—६२
बंधननामकर्म के पञ्च भेद मानने में हेतु	५९
बंधननामकर्म के पञ्च भेदों के लक्षण	६१
गाथा ९	६२—६५
संवालननामकर्म के पांच भेद मानने सम्बन्धी शंका-समाधान	६२
संवालननामकर्म के पांच भेदों के लक्षण	६४
गाथा १०	६५—६६
अशुभ और शुभ वर्णचतुर्क के उत्तर भेदों के नाम	६६
गाथा ११	६७—६८
दर्गीकरण की संज्ञाओं के नाम	६७
संक्षेप में ध्रुवब्रह्मिनी आदि संज्ञाओं के लक्षण	६८
गाथा १२	६९—७५
अध्रुवब्रह्मिनी प्रकृतियों के नाम	७०
अध्रुवब्रह्मिनी मानने का कारण	७१
अअध्रुवब्रह्मिनी प्रकृतियों के नाम	७२
अअध्रुवब्रह्मिनी मानने का कारण	७३

गाथा १६	३८-३९
ध्रुवोदया प्रकृतियों के नाम	७४
ध्रुवोदया मानने का कारण	७५
अध्रुवोदया प्रकृतियों के नाम	७५
अअध्रुवोदया मानने का कारण	७५
गाथा १७	७६
आति, अश्वाति प्रकृतियों के नाम	७६
गाथा १८	७७-८०
सर्वधसि व देशधाति मानने का कारण	७७
गाथा १९	८१
देशधाति प्रकृतियों के नाम	८१
गाथा २०	८२-८३
परावर्तमान, अपरावर्तमान प्रकृतियों के नाम व मानने का कारण	८२
गाथा २१, २२	८३-८५
शुभ अशुभ प्रकृतियों के नाम	८५
गाथा २३, २४	८५-८९
पुद्गलविषयाकी प्रकृतियों के नाम व मानने का कारण	८६
भवविषयाकी प्रकृतियों के नाम व मानने का कारण	८८
जीवविषयाकी प्रकृतियों के नाम व मानने का कारण	८९
जीवविषयाकी प्रकृतियों के नाम व मानने का कारण	९०
सभी प्रकृतियों को जीवविषयाकी न मानने में हेतु	९०
गाथा २५	९१-९५
औपशमिक आदि पांच भावों के लक्षण	९१
प्रत्येक कम्ति में संभव भाव	९३

<b>गाथा २६</b>	<b>८५-८८</b>
उपशम व क्षयोपशम भाव से प्राप्त गुणों का निर्देश	८६
चारित्र की पहले ग्रहण करने में हेतु	८६
क्षयिक भाव से प्राप्त गुणों का निर्देश	८७
औदयिक भावजन्य और की अवस्थाओं का निर्देश	८७
<b>गाथा २७</b>	<b>८८-१०१</b>
परिणामिक भावापेक्षा मूल कर्मों के साविआदि रूप	८८
इहर प्रकृतियों के साविआदि रूप	८९
<b>गाथा २८</b>	<b>१०१-१०६</b>
प्रकृतियों के उदय में क्षयोपशमभाव की संभावना एवं	१०२
तत्सम्बन्धी शकासमाधान	
क्षयोपशम के दो अर्थ	१०५
<b>गाथा २९</b>	<b>१०६-१०८</b>
रसस्पर्धकों के प्रकार	१०६
सर्वधाति और देशधाति प्रकृतियों के रसस्पर्धक	१०७
<b>गाथा ३०</b>	<b>१०८-११०</b>
औदयिक भाव के शुद्ध और क्षयोपशम भाव युक्त होने	१०८
में हेतु	
<b>गाथा ३१</b>	<b>११०-११२</b>
बैधापेक्षा प्रकृतियों में सम्भव रसस्पर्धक	११०
<b>गाथा ३२</b>	<b>११३-११४</b>
रसस्थानक बंध के हेतुओं के प्रकार	११३
<b>गाथा ३३</b>	<b>११४-११६</b>
शुभ और अशुभ रस की उपमा	११५
रस की शक्ति का निरूपण	११६

गाथा ३४		११६-१२०
ध्रुवाध्रुवसत्ताका प्रकृतियों और मानने में हेतु		१२७
अनन्ताद्वयविकल्पयों को ध्रुवसत्ताका शास्त्रने के हेतु		११८
गाथा ३५		१२१-१२२
उद्वलन प्रकृतियों के नाम और मानने में हेतु		१२१
गाथा ३६		१२३-१२४
ध्रुव और अध्रुवबंधि पद का अर्थ		१२३
अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के नाम और अध्रुवबंधिनी मानने का कारण		१२३
गाथा ३७		१२५-१२६
प्रकृतियों के उदयहेतु		१२५
गाथा ३८		१२६-१२७
ध्रुवाध्रुवोदयत्व का अर्थ		१२७
गाथा ३९		१२७-१२८
शुभ, अशुभ, सर्वधाति आदि पदों का अर्थ और कारण		१२७
गाथा ४०, ४१		१२८-१३२
सर्व और देश धाति रस का स्वरूप तथा उसके लिए प्रदत्त उपमायें		१३०
गाथा ४२		१३२-१३३
अषाति रस का स्वरूप		१३२
गाथा ४३		१३३-१३४
संज्वलनकषायचतुष्क और नोकषायों को देशधाति मानने का कारण		१३४

गाथा—४५	१२४-१३६
परावर्तमान पद का अर्थ व तद्गत प्रकृतियों के नाम व मानने का कारण	१३५
अपरावर्तमान पद का अर्थ व तद्गत प्रकृतियों के नाम	१३५
गाथा ४६	१३७-१३८
विषाक की अपेक्षा प्रकृतियों के भेद	१३७
गाथा ४७	१३८-१३९
हेतुविषाका प्रकृतियों संबन्धी वक्तव्य	१३९
गाथा ४८	१३९-१४१
पुद्गलविषाकित्व विषयक समाधान	१४०
गाथा ४९	१४१-१४३
भवविषाकित्व विषयक समाधान	१४२
गाथा ५०	१४३-१४४
श्वेतविषाकित्व विषयक समाधान	१४३
गाथा ५१	१४४-१४५
जीवविषाकित्व विषयक समाधान	१४५
गाथा ५२	१४५-१४६
रसविषाकित्व विषयक प्रश्न	१४६
गाथा ५३, ५४	१४७-१५०
रसविषाकित्व विषयक प्रश्नों के उत्तर	१४८
गाथा ५४	१५०-१५१
उत्कृष्ट स्थिसिंबंध घोष्य अध्यवसायों द्वारा एकस्थानक रसबन्ध क्यों नहीं ?	१५०

[ ३५ ]

गाथा ४५	प्रकृतियों के नाम एवं सत्ता विषयक प्रश्नोत्तर	१५२
	प्रकारान्तर से प्रकृतियों के वर्गीकरण की संज्ञाओं के नाम	१५४
	स्वानुदयबंधिनी आदि वदों के अर्थ	१५५
गाथा ४६		१५६-१५७
	स्वानुदयबंधिनी आदि श्रिकांत प्रकृतियों और उनको उन वर्गों में ग्रहण करने का कारण	१५७
गाथा ५७, ५८	समकक्षबच्छिद्यमानबोद्या प्रकृतियों के नाम और मानने का कारण	१६०
	अमव्यबच्छिद्यमानबोद्या प्रकृतियों के नाम और मानने का कारण	१६१
	उत्कमव्यबच्छिद्यमान बोद्या प्रकृतियों के नाम व मानने का कारण	१६४
गाथा ५९, ६०, ६१		१६५-१६६
	निरन्तरबंधिनी प्रकृतियों के नाम व मानने में हेतु	१६७
	सान्तर-निरन्तरबंधिनी प्रकृतियों के नाम और मानने में हेतु	१६७
	सांतरबंधिनी प्रकृतियों के नाम और मानने में हेतु	१६८
गाथा ६२		१६९-१७१
	उदयबोद्योक्तषटादि के लक्षण	१७०

गाथा ६३	१७१-१७३
उदयसंक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों के नाम व मानने में हेतु	१७२
गाथा ६४	१७३-१७५
अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों के नाम व मानने में हेतु	१७५
गाथा ६५	१७५-१७७
अनुदयबंधोत्कृष्टा प्रकृतियों के नाम व मानने में हेतु	१७५
उदयबंधोत्कृष्टा प्रकृतियों के नाम व मानने में हेतु	१७६
गाथा ६६, ६७	१७७-१८१
अनुदयवतित्व और उदयवतित्व का लक्षण	१७८
उदयवती प्रकृतियों के नाम व मानने में हेतु	१७९
अनुदयवती प्रकृतियों के नाम व मानने में हेतु	१८०
<b>परिशिष्ट</b>	
बंधव्यप्ररूपणा अधिकार की मूल गाथाएँ	१८२
बंधव्य प्ररूपणा अधिकार का गाथा-अकाराच्यनुक्रम	१८३
गति और जाति नामकर्म को पृथक्-पृथक् मानने में हेतु	१८४
ध्रुववंधि आदि वर्गों में गमित प्रकृतियों का प्रारूप (तालिकाएँ) — संलग्न	१८५

### ३. बंधव्य-प्ररूपणा अधिकार

बंधक-प्ररूपणा नामक द्वितीय अधिकार का प्रतिग्रादन करने के पश्चात् अब क्रमप्राप्त बंधव्य-प्ररूपणा अधिकार का विवेचन प्रारम्भ करते हैं।

पूर्व में बताये गये चौदह प्रकारों में वर्गीकृत जीवों के द्वारा बाधने योग्य क्या है? बंध किसका करते हैं? उसका विचार इस अधिकार में किया जायेगा। बंधयोग्य कर्म हैं। अतः कर्म का सांगोषांग विवेचन करने और सरलता से समझने के लिए उसके उत्तरभेदों का कथन प्रारम्भ करने के पूर्व मूलभेदों को बतलाते हैं। क्योंकि मूलभेदों का ज्ञान होने पर उत्तरभेदों को सरलता से जाना जा सकता है। कर्मों के मूलभेद इस प्रकार हैं—

**कर्मों की मूलप्रकृतियाँ**

नाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेषणीय मोहणीयं ।

आउ य नामं योयं तहंतरायं च पथडीओ ॥१॥<sup>१</sup>

शब्दार्थ—नाणस्स—ज्ञान का, दंसणस्स—दर्शन का, य—और, आवरण—आवरण, वेषणीय—वेदनीय, मोहणीय—मोहनीय, आउ—आगु, य—और, नाम—नाम, योयं—योइ, तह—तह, तहंतराय—अत्तराय, च—और, पथडीओ—प्रकृतियाँ ।

१ तुलना कीजिये—

नाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेषणीय मोहणीयं ।

आवरण नाणागोवं तहंतरायं च मूलायो ॥

**गाथार्थ**—ज्ञान और दर्शन का आवरण—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु-नाम, गोत्र-लक्षा अन्तराय द्वे कार्य की आठ मूल प्रकृतियाँ हैं।

**विशेषार्थ**—संसारी जीव द्वारा प्रति समय कार्मणवर्गणा के पुद्गलों का ग्रहण किया जा रहा है और ग्रहण की जा रही कर्म-पुद्गल-राशि में जीव की पारिणामिकपरिणति-अध्यवसायशक्ति की विविधता से अनेक प्रकार के स्वभावों का निर्मण होता है। ये स्वभाव अद्वैत हैं और जिसके परिणमन की अनुभूति उनके कार्यों के प्रभाव को देखकर की जाती है। जैसे कि कर्मों के अनुभव के असंख्य प्रकार हैं तो उसका निर्मण करने वाले जीवस्वभाव भी असंख्य हैं। फिर भी संक्षेप में उन सभी का आठ भागों में वर्णिकरण करके गाथा में नाम बतलाये हैं कि—

- (१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय,
- (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र और (८) अंतराय।<sup>१</sup>

असंख्य कर्मप्रभावों का इन आठ नामों में वर्णिकरण करने का कारण यह है कि जिज्ञासुजन सरलता से कर्मसिद्धान्त को समझ सकें।

ज्ञानावरण आदि उक्त आठ कर्मों के लक्षण इस प्रकार हैं—

**ज्ञानावरणकर्म**—जीवादिक पदार्थ जिसके द्वारा जाने जाते हैं, उसे ज्ञान कहते हैं। अथवा जिसके द्वारा वस्तु का ज्ञान हो, यानी नाम, जाति, गुण, क्रिया आदि सहित विशेष व्योध जिसके द्वारा हो, उसे ज्ञान और जिसके द्वारा आच्छादन हो—उसे आवरण कहते हैं। यानि मिथ्यात्वादि हेतुओं की प्रधानता वाले जीव व्यापार द्वारा ग्रहण की

<sup>१</sup> आधो ज्ञानदर्जनावरणवेदनीयमोहनीययुक्तंभगोत्रान्तरायः।

हुई कार्मणवर्गणों के विशिष्ट पुदगलसमूह को आवरण कहते हैं। अतः ज्ञान को आच्छादित करने वाला पुदगलसमूह ज्ञानावरण है।

**दर्शनावरणकर्म**—जिसके द्वारा पदार्थ देखा जाये, अवलोकन किया जाये, उसे दर्शन कहते हैं।<sup>१</sup> यानी नाम, जाति आदि विशेषों के द्विना वस्तु का जो सामान्य बोध हो, वह दर्शन है। अथवा वस्तु के सामान्य-विशेषात्मक रूप में से सामान्य धर्म को ग्रहण करने वाले बोध को दर्शन कहते हैं। इस दर्शन को आच्छादित करने वाले पुदगल-समूह की दर्शनावरणकर्म कहते हैं।

**वेदनीयकर्म**—संसारी जीवों के द्वारा सुख-दुःख रूप में जिसका अनुभव हो उसे वेदनीयकर्म कहते हैं। वैसे तो सभी कर्म अपना-अपना वेदन करते हैं लेकिन वेदनीय शब्द पंकज आदि शब्दों की तरह रुद्ध अर्थ वाला होने से साता और असाता—सुख-दुःख रूप में जो अपना अनुभव करता है वही वेदनीय कहलाता है, शेष कर्म वेदनीय नहीं कहलाते हैं।

**मोहनीयकर्म**—जो प्राणियों को मोहित करता है, सदसद् विवेक-विकल करता है, रहित करता है, उसे मोहनीयकर्म कहते हैं। अथवा जो कर्म आत्मा के सम्यनत्व-स्वरूपबोध और चारित्रस्वरूप गुण के लाभ में व्यवधान डालता है, जिससे कि मैं कौन हूँ, मेरा स्वरूप क्या है, पर क्या है और पर का स्वरूप क्या है, ऐसा भेदविज्ञान न होने दे, उसे मोहनीयकर्म कहते हैं।

**आयुकर्म**—जिसके वश चतुर्गति-समाधिश्च प्राणि भव से भवान्तर में जाते हैं, अथवा जिसके द्वारा अमुक-अमुक गति में अमुक काल तक

<sup>१</sup> अं साधणं गहणं भावाणं वेद कट्टमायारं ।

अविसेसिद्धूण अट्ठे धृष्णमिति अण्णए समए ॥

आत्मा रहे, अपने किये हुए कर्मों के द्वारा प्राप्त हुई नरकादि लुर्णति में से निकलने की इच्छा होने पर भी जो अटकावे, प्रतिबंधकपने को प्राप्त हो और देवादि गति में रहने की इच्छा होने पर भी जीव न रह सके, उसे आयुकर्म कहते हैं। अथवा एक भव में दूसरे भव में जाती हुई आत्मा को जिसका अवश्य उदय हो उसे आयुकर्म कहते हैं। आयुकर्म के कारण ही तत्त् भव की प्राप्ति होती है।

**नामकर्म**—अधम, मध्यम या उत्तम आदि गतियों में प्राणी को जो उन्मुख करता है। अथवा जो कर्म आत्मा को गति, जाति आदि अनेक पर्यायों का अनुभव कराता है, उसे नामकर्म कहते हैं।

**गोब्रकर्म**—उच्च और नीच शब्द द्वारा बोला जाये, ऐसी उच्च और नीच कुल में उत्पन्न होने रूप आत्मा की पर्यायिविशेष को गोब्रकर्म कहते हैं और उस पर्याय की प्राप्ति में हेतुभूत कर्म भी कारण में कार्य का आरोप होने से गोब्रकर्म कहलाता है। अथवा जिसके उदय से आत्मा का उच्च और नीच शब्द द्वारा व्यवहार हो, वह गोब्रकर्म कहलाता है।

**अन्तरायकर्म**—लाभ तथा दानादि का व्यवधान-अन्तर करने के लिए जो कर्म प्राप्त होता है यानी जिस कर्म के उदय से जीव दानादि न कर सके, उसे अन्तरायकर्म कहते हैं।

इस प्रकार से कर्मों की आठ मूल प्रकृतियाँ हैं। यद्यपि प्रकृति शब्द के स्वभाव, शील, भेद आदि अनेक अर्थ हैं, उनमें से यहाँ प्रकृति शब्द का 'भेद' अर्थ प्रहण किया गया है।<sup>१</sup> जिसका यह अर्थ हुआ कि कर्म के ज्ञानावरणादि उक्त आठ मूलभेद हैं।

<sup>१</sup> दिग्म्बर कर्मकाहित्य में प्रकृति शब्द का शील, स्वभाव सर्व ही उल्लिखित मिलता है। यथा—

पष्ठो शील सहायी।

## ज्ञानावरणादि का क्रमविन्यास

**प्रश्न**—ज्ञानावरणादि कर्मों को इस क्रम से कहने का क्या प्रयोग है ? अथवा प्रयोजन के बिना ही इस प्रकार का क्रमविन्यास किया है ?

**उत्तर**—जिस क्रम से ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का विन्यास किया है, वह सप्रयोजन है। जो इस प्रकार समझना चाहिये—

ज्ञान और दर्शन जीव का स्वभाव है। क्योंकि ज्ञान और दर्शन के अभाव में जीवत्व ही ही नहीं सकता है। यदि जीवों में ज्ञान और दर्शन का ही अभाव हो तो उन्हें जीव नहीं कहा जा सकता है। इसलिए जीव में उसकी स्वरूपचेतना—ज्ञान और दर्शन होना ही चाहिये। इस ज्ञान और दर्शन में भी ज्ञान प्रधान अथवा मुख्य है। क्योंकि ज्ञान के द्वारा ही सभी ज्ञानश्रोतों का विचार ही सकता है तथा जब कोई लिखित प्राप्त होती है तो वह ज्ञानोपयोग में वर्तमान जीव को ही प्राप्त होती है। दर्शनोपयोग में वर्तमान जीव को प्राप्त नहीं होती है। तथा जिस समय आत्मा सम्पूर्ण कर्ममल से रहित होती है, उस समय ज्ञानोपयोग में ही वर्तमान होती है।<sup>१</sup> दर्शनोपयोग में नहीं होती है। इस कारण ज्ञान प्रधान है और उसको आवृत करने वाला कर्म ज्ञानावरण होने से पहले उसका कथन किया है। तत्पश्चात् दर्शन को आवृत करने वाले दर्शनावरणकर्म का विन्यास किया है। क्योंकि ज्ञानोपयोग से अनुत्त आत्मा की दर्शनोपयोग में स्थिरता होती है।

ये ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म अपना विषयक बतलाते हुए यथायोग्य रीति से अवश्य सुख और दुःख रूप वेदनीयकर्म के उदय

१ सब्बा उ सद्गीजो सागरोवओमोवउस्त्वं, न अणागारोवओगोवउत्स्त्वं ।

२ तेरहूवें, चौदहूवें गुणावधान और विद्वावस्था के प्रत्यम समय में आत्मज्ञान के उपयोग में ही वर्तमान होती है।

में होते होते हैं। वह इस प्रकार कि अतिगाढ़ ज्ञानावरणकर्म के रसोदय द्वारा सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म पदार्थों का विचार करने में स्वयं को असमर्थ जानकर अनेक जीव अत्यन्त बेदखिल होते हैं, अत्यन्त दुःख का अनुभव करते हैं और ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई पट्टायुक्त आत्मा सूक्ष्म, सूक्ष्मतर पदार्थों को अपनी बुद्धि के द्वारा जानते समय और दूसरे अनेक व्यक्तियों की अगेका अपने को विशिष्ट देखकर अत्यन्त आनन्द—सुख का अनुभव करती है। इस प्रकार ज्ञानावरणकर्म का उदय और क्षयोपशम अनुकूल से दुःख और सुख रूप वेदनीयकर्म के उदय में निमित्त होता है तथा गाढ़ दर्शनावरणकर्म के विपाकोदय द्वारा जन्मांष आदि होने से बहुत से व्यक्ति अति अद्भुत दुःख का अनुभव करते हैं और दर्शनावरणकर्म के क्षयोपशम द्वारा उत्पन्न हुई कुशलता—निपुणता द्वारा स्पष्ट चक्षु आदि इन्द्रियों से युक्त होकर यथार्थ रूप से वस्तु को देखकर आनन्द की अनुभूति करते हैं। इस तरह दर्शनावरणकर्म दुःख और सुखरूप वेदनीयकर्म के उदय में निमित्त होता है। इस आशय को बताने के लिए ज्ञानावरण, दर्शनावरण के पश्चात् वेदनीयकर्म का क्रमविव्यास किया है।

वेदनीयकर्म इष्ट और अनिष्ट वस्तु का संयोग होने पर सुख या दुःख उत्पन्न करता है और इष्ट-अनिष्ट वस्तु के संयोग से संसारी आत्मा को अवश्य राग और द्वेष उत्पन्न होता है। इष्ट वस्तु का संयोग होने से 'अच्छा हुआ कि अमुक वस्तु मुझे मिली' ऐसा भाव और अनिष्ट वस्तु का संयोग होने पर 'यह वस्तु मुझे कहाँ से मिली? कब इससे छुटकारा होगा?' ऐसा भाव पैदा होता है। यही राग और द्वेष है और यह राग एवं द्वेष मोहनीयकर्म रूप ही है। इस प्रकार वेदनीयकर्म मोहनीय के उदय में कारण है। यही अर्थ बतलाने के लिए वेदनीय के अनन्तर मोहनीयकर्म का प्रतिविधान किया है।

मोहरूढ़ आत्मायें बहु बारम्भ और परिग्रह बाले कार्यों में आसक्त होकर नरकादि के आयुष्य को बंध करती हैं। इस प्रकार मोहनीयकर्म

आयुकर्म के बीच में कारण है, यह बताने के लिए शोहनीय के अनन्तर आयुकर्म का उपन्यास किया है।

नरकायु आदि किसी भी आयु का जब उदय होता है तब अवश्य ही नरकगति, पञ्चेन्द्रियजाति आदि रूप नामकर्म का उदय होता है। इसलिए आयु के पश्चात् नामकर्म का क्रम रखा है।

नामकर्म का जब उदय होता है तब उच्च या नीच गोत्र में से किसी एक का उदय अवश्य होता है, इस बात को बताने के लिए नामकर्म के बाद शोधकर्म ता करने किया है।

गोत्रकर्म का जब उदय होता है तब उच्च कुल में उत्पन्न हुए व्यक्तियों को प्रायः दानान्तराय, लाभान्तराय आदि कर्म का आयोग्यम होता है। क्योंकि राजा आदि अधिक दान देते हैं तो अधिक लाभ भी प्राप्त करते हैं, ऐसा प्रत्यक्ष दिखलाई देता है और नीच कुल में उत्पन्न हुओं को प्रायः दानान्तराय, लाभान्तराय आदि कर्म का उदय होता है। अन्यज आदि हीन कुलोत्पन्न व्यक्तियों में दानादि दिखता नहीं है। इस तरह उच्च-नीच गोत्र का उदय अन्तरायकर्म के उदय में हेतु है, इस अर्थ का बोध कराने के लिए गोत्र के पश्चात् अन्तरायकर्म का विधान किया है।

१ दिग्मवर कर्मवाहित्य में भी अष्ट कर्मों के कथन की उपपत्ति प्रायः पुर्वोक्त जैसी है। परन्तु जानने योग्य बात यह है कि अन्तरायकर्म धाति होने पर भी सबसे अंत में कहने का आशय है कि वह कर्म धाति होने पर भी अधातिकर्म की तरह जीव के गुण का सर्वथा घात नहीं करता है तथा उसके उदय में अधातिकर्म निभित होते हैं और वीर्यगुण शक्ति रूप है और वह शक्ति रूप गुण जीव और अजीव दोनों में पाया जाता है, इसलिए उसके घात करने वाले अन्तरायकर्म का सब कर्मों के अंत में निर्देश किया है। तत्सम्बन्धी याठ इस प्रकार है—



इस प्रकार मूल कर्मप्रकृतियों का कथन करने के पश्चात् अब कर्म की उत्तरप्रकृतियों की संख्या बतलाते हैं।

### कर्मों की उत्तरप्रकृतियाँ

पञ्च नव दोन्नि अट्ठावीसा चउरो तहेव बायाला ।

दोन्नि य पञ्च य भणिथा पयडीओ उत्तरा चेव ॥२॥<sup>१</sup>

शब्दार्थ—पञ्च—पञ्च, नव—नौ, दोन्नि—दो, अट्ठावीसा—अट्ठाईस, चउरो—चार, तहेव—इसी प्रकार, बायाला—बयालीस, दोन्नि—दो, य—और, पञ्च—पञ्च, य—और, भणिथा—कही गई है, पयडीओ—प्रकृतियाँ, उत्तरा—उत्तर, चे—और, एव—ही।

धारीषि अधावि वा णिहेसं धावो असकहादो ।

धाभतियणिमिलादो लिग्वं पठिवं अधाविवरिमिह ॥

.....विरियं जीक्षामीवगदमिदि अरिमे ।

—दि. कर्मप्रकृति गा. १८. १७

वेदनीयकर्म अधावि हीने पर मी उसका पाठ धातिकर्म के बीच इसलिये किया गया है कि वह धातिकर्म की तरह मोहनीयकर्म के बल से जीव के गुण का घास करता है—

धावि य वेयणीर्य मोहस्स वलेष धावदे जोर्य ।

इदि धावोर्य मज्जो मोहस्साविमिह पठिवं तु ॥

—दि. कर्मप्रकृति गा. २०

### १ तुलना कीजिये—

पञ्च नव शोणिण अट्ठावीसं चउरो तहेव लेणाजवी ।

शोणिण य पञ्च य भणिथा पयडीओ उत्तरा हूँति ॥

दि. पंचर्सग्रह २४

**गाथार्थ—**पांच, नीं, दो, अट्ठाईस, चार तथा बयालीस, दो और पांच इस प्रकार के अनुक्रम से आठ कर्मों की उत्तरप्रकृतियां कही गई हैं।

**विशेषार्थ—**पूर्व गाथा में मूल कर्मप्रकृतियों का जिस क्रम से विधान किया है, तदनुसार इस गाथा में प्रत्येक की उत्तरप्रकृतियों की संख्या का निर्देश किया है। प्रत्येक कर्म के नाम के साथ क्रमशः जिनकी योजना इस प्रकार करना चाहिए—

ज्ञानावरणकर्म की पांच उत्तरप्रकृतियां हैं। इसी तरह दर्शनावरण की नीं, वेदनीय की दो, मोहनीय की अट्ठाईस, आयु की चार, नाम की बयालीस, गोत्र की दो और अन्तराय की पांच उत्तर प्रकृतियां हैं।<sup>१</sup>

इस प्रकार से उत्तर प्रकृतियों की संख्या बतलाने के पश्चात् उद्देश क्रम के अनुरूप कथन करते का नियम होने से अब प्रत्येक कर्म की उत्तर प्रकृतियों के नाम और उनके लक्षण बतलाते हैं। सर्वप्रथम समान स्थितिमर्थादा एवं संख्या वाली होने से ज्ञानावरण और अन्तरायकर्म की प्रकृतियों का व्याख्यान करते हैं।

### ज्ञानावरण तथा अन्तराय कर्म की प्रकृतियां

मद्भुयओहीमणकेवलाण आवरण भवे पदम् ।

तह दाणलाभभोगोवभोगविरियंतरायदं चरिम् ॥३॥

**शब्दार्थ—**मद्भुयओहीमणकेवलाण—मति, शृृत, अवधि, मनष्यर्थीय और केवल ज्ञान का, आवरण—आवरण, भवे—है, पदम्—पहला, तह—सथा, दाणलाभभोगोवभोगविरिय—दान, भास, भौम, उपभोग शीर्य, अतरायर्थ—अन्तराय, चरिम्—अन्तिम।

१ अत्थो ज्ञानदर्शनावरणकेदनीयमोहनीयायुक्तसामग्रान्तरायः । एतचत्वार्थ-द्व्यष्टाविश्वतिष्ठतुद्वित्वारिणद्विपञ्चभेदायथाक्रमम् ।

**गत्यार्थ—**मति, श्रुति, अवधि, मनपर्याय और केवल ज्ञान का जो आवरण है, वह पहला (ज्ञानावरण) कर्म है तथा दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य का अवरोधक अन्तिम अन्तरायकर्म ज्ञानना चाहिए।

**विशेषार्थ—**समान स्थिति और प्रकृतियों की समान संख्या होने से गाया में ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म की पांच-पांच प्रकृतियों के नाम बतलाये हैं। उनमें से ज्ञानावरण की पांच प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

१ मतिज्ञानावरण, २ श्रुतज्ञानावरण, ३ अवधिज्ञानावरण, ४ मनपर्यायज्ञानावरण और ५ केवलज्ञानावरण ।<sup>१</sup>

मति, श्रुत आदि पांच ज्ञानों का स्वरूप पहले योगोपयोगमार्गणा अधिकार में और आवरण का स्वरूप पहले कहा है। अतएव मतिज्ञान और उसके अन्तर्भौदों को आच्छादित करने वाले कर्म को मतिज्ञानावरण तथा श्रुतज्ञान और उसके अवान्तर भेदों को आबृत करने वाले कर्म को श्रुतज्ञानावरणकर्म कहते हैं। इसी प्रकार अवधिज्ञानावरण, मनपर्यायज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण कर्मों का स्वरूप समझ लेना चाहिए। ज्ञानावरणकर्म आत्मा के ज्ञान गुण को आबृत करता है।

इस प्रकार से ज्ञानावरणकर्म की पांच उत्तर प्रकृतियों के लक्षण ज्ञानना चाहिए। अब तत्समसंख्यक और समान स्थिति वाले कर्म अन्तराय की पांच प्रकृतियों का स्वरूप बतलाते हैं।

(१) (क) मदि-सुष-ओही-मणपञ्जद-केवलज्ञान आवरणमेव । पञ्चविष्ट्यं णाण्णावरणीयं ज्ञाणं जिणमणियं । —दि. कर्मप्रकृति ४२

(ख) मतिश्रुतावधिमनपर्यवकेवलज्ञानां । अथवा—मत्यादीनाम् ।

तत्त्ववार्यसूत्र ८१६.७

## अन्तरायकर्म की उत्तरप्रकृतियाँ

आत्मा के दानादि गुणों को दबाने वाला दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीयन्तराय के भेद से अन्तिम अथवि आठवां कर्म यात्र प्रकार का है। उनके लक्षण इस प्रकार हैं—

**दानान्तराय**—अपने अधिकार की वस्तु को अन्य को देना दान कहलाता है। जिस कर्म के उदय से उस प्रकार के दान की इच्छा न हो, अपने पास वैभव होने पर भी और गुणवान् पात्र के मिलने पर भी तथा इस महात्मा को देने से भग्नान फल की प्राप्ति होगी, ऐसा समझते हुए भी देने का उत्साह न हो उसे दानान्तरायकर्म कहते हैं।

**लाभान्तराय**—लाभ अथवि वस्तु की प्राप्ति। जिस कर्म के उदय से वस्तु को प्राप्त न कर सके, दान गुण से प्रसिद्ध दाता के घर में देने योग्य वस्तु के होने पर भी और उस वस्तु को भिक्षा में मांगने में कुशल, गुणवान् याचक होने पर भी प्राप्त न कर सके वह लाभान्तराय कहलाता है।

**भोगान्तराय**—जिस कर्म के उदय से विशिष्ट आहारादि वस्तु मिलने पर भी और प्रत्याख्यान—त्याग का परिणाम अथवा वैराग्य न होने पर भी जीव मात्र कृपणता से उस वस्तु का भोग करने में समर्थ न हो, वह भोगान्तरायकर्म है।

**उपभोगान्तराय**—पूर्वोक्त प्रकार से उपभोगान्तरायकर्म का भी लक्षण समझ लेना चाहिए। भोग और उपभोग में लाभान्तरायकर्म के विशेषज्ञता से प्राप्त सामग्री का उपभोग किया जाता है। परन्तु दोनों में यह विशेषता है कि जिसका एक बार भोग किया जाये, उसे भोग और बारबार भोग किया जा सके, उसे उपभोग कहते हैं। एक बार भोगने योग्य वस्तु जिसके उदय से न भोगी जा सके वह भोगान्तराय और बार-बार भोगने योग्य वस्तु जिसके उदय से न भोगी जा सके वह

उपभोगान्तराय कहलाता है। खाद्य भोजन, पुण्य आदि भोग और वस्त्र, पात्र आदि उपभोग की कोटि में आते हैं।

**शीयन्तिराय**—वीर्य यानि आत्मा की अनन्त शक्ति, उसको जावृत बाला कर्म शीयन्तिराय कहलाता है। शरीर रोग रहित हो, युवावस्था हो किन्तु जिस कर्म के उदय से अल्प बल बाला हो अथवा शरीर बल-बान हो किन्तु कोई सिद्ध करने लायक कार्य के उपास्थित होने पर होन-सत्त्वता के कारण उस कार्य को सिद्ध करने में प्रवृत्ति न कर सके, उसे शीयन्तिरायकर्म कहते हैं।

इस प्रकार से अन्तरायकर्म की पांच प्रकृतियाँ जानना चाहिये। अब समान स्थिति बाले और व्यातिकर्म होने से दर्शनावरण के निकट-वर्ती दूसरे दर्शनावरणकर्म की उत्तरप्रकृतियों को बतलाते हैं।

### दर्शनावरणकर्म की उत्तरप्रकृतियाँ

नयणेयरोहिकेवल दंसण आवरणम् भवे चउहा ।

निद्रापयलाहि छहा निदाइदुरुत्त थीणद्वी ॥४॥

**शब्दार्थ**—नयणेयरोहिकेवल—नयन (चक्षु), इतर (अचक्षु), अवधि और केवल, वंसण—इर्णन, आवरण—आवरण, भवे—है, चउहा—चार प्रकार का, निद्रापयलाहि—निद्रा और प्रचला के साथ, छहा—छह प्रकार का, निदाइदुरुत्त—दो बार बोली गई निद्रा और प्रचला, थीणद्वी—स्थानद्वि।

**गायार्थ**—चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शन के भेद से दर्शनावरणकर्म चार प्रकार का है, निद्रा और प्रचला के साथ छह भेद वाला है और दो बार बोली गई निद्रा और प्रचला तथा स्थानद्वि के साथ नौ प्रकार का है।

**विशेषार्थ**—गाया में दर्शनावरणकर्म के भेद तीन खण्ड करके बताये हैं। इन तीन खण्डों को करने का कारण यह है कि बांध, उदय

और सत्ता में किसी समय चार प्रकार, किसी समय छह प्रकार और किसी समय नी प्रकार यह तीन रूप सम्भव हैं। ये चार, छह और नी प्रकार कैसे सम्भव हैं, इसको स्पष्ट करते हुए प्रथम चार प्रकारों को बतलाते हैं—

चक्षु, अन्धकु, अद्वितीय और देवदश द्वितीय हम्मदत्ती विषय को आवृत करने वाला दर्शनावरणकर्म चार भेद वाला है—‘नयणेयरोहिकेवल दंष्ट्र-आवरणयं भवेचउहा’। तात्पर्य यह है कि जब दंष्ट्र, उदय और सत्ता में दर्शनावरणकर्म के चार भेद की विविधा की जाती है तब वे चार भेद इस प्रकार समझना चाहिए—चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण। अद्विदर्शनावरण और देवदशदर्शनावरण।

चक्षु के द्वारा चक्षु विषय का जो सामान्य ज्ञान, उसे चक्षुदर्शन कहते हैं। उसको आवृत करने वाला कर्म चक्षुदर्शनावरण है। चक्षु के शिवाय शेष स्पर्शनादि चार इन्द्रियों और मन के द्वारा उस, उस इन्द्रिय के विषय का जो सामान्य ज्ञान वह अचक्षुदर्शन है और उसको आचक्षुदर्शन करने वाला जो कर्म वह अचक्षुदर्शनावरण है।<sup>2</sup> अचक्षु-

१,२ चक्षुदर्शनावरण और अचक्षुदर्शनावरण इन दो अलग-अलग भेद का कारण यह है कि यदि सामान्य इन्द्रियावरण कहा जाता तो सभी आवरणों का समावेश होता है परन्तु लोक में यह कस्तु मैंने देखा है, यह देख रहा है, ऐसा व्यवहार चक्षु के सम्बन्ध में ही होता है, अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में नहीं होता तथा विग्रहगति में जब अन्य कोई वास्तव नहीं होता तब अचक्षुदर्शन हो होता ही है, यह बताने के लिये चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन कहे हैं और इसीलिये दोनों दर्शनावरणों का पृथक् निर्देश किया है।

चक्षुण चां व्यत्साह शीसह तं चक्षुदर्शनं वित्ति ।

सेतिविवरणकात्ते वायव्यो तो अचक्षु ति ॥

दि. कर्मप्रकृति या. ४४

दर्शनावरण में स्पर्शनादि चार इन्द्रियावरणों और मन—नोइन्द्रियावरण इस प्रकार पाँच आवरणों का समावेश होता है। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा द्वारा मयदि में रहे हुए रूपों पदार्थों का जो सामान्य ज्ञान, उसे अवधिदर्शन कहते हैं और उसका आवरण करने वाला कर्म अवधिदर्शनावरण कहलाता है। रूपी, अरूपी प्रत्येक पदार्थ का जो सामान्य ज्ञान वह केवलदर्शन है और उसको आवृत करने वाला कर्म केवलदर्शनावरण कहलाता है।

इन्हीं चारों दर्शनावरणों के साथ निद्रा और प्रचला को मिलने पर दर्शनावरणकर्म के छह भेद होते हैं।

'ति' उपसर्ग पूर्वक कुत्सार्थक 'द्रा' धातु से निद्रा शब्द निष्पत्त होता है। जिसका अर्थ यह हुआ कि जिस अवस्था में चंतस्य अवश्य अस्पष्ट होता है, उसे निद्रा कहते हैं।<sup>१</sup> जिसके अन्दर छुटकी आदि वजाने अथवा धीरे से भी घ्वनि करने पर सुखपूर्वक जागना हो जाये, उसे निद्रा कहते हैं। इस प्रकार की नीद आने में करणभूत जो कर्म वह कारण में कार्य का आरोप करने से निद्रा कहलाता है। निद्रादर्शनावरणकर्म नीद आने में कारण है और नीद आना यह कार्य है।

जिस निद्रा में बैठेन्वैठे या खड़े-खड़े नीद आये उसे प्रचला कहते हैं।<sup>२</sup>

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य में निद्रा का लक्षण यह लताया है—जिसके उदय से जीव गमन करते हुए भी खड़ा वह जाये, बैठ जाये, गिर जाये उसे निद्रा कहते हैं—

शिद्वुदय गच्छतो ठाह पुणो बद्धस्त्रि पठेदि ।

—दि. कर्मप्रकृति गा. ५०

२ दिगम्बर कर्मसाहित्य में प्रचला का लक्षण यह लताया है—जिसके उदय से जीव कुद्र जागता और कुद्र सोता रहे—

पञ्चलुब्धेऽप्यलोकोऽसुखगीलिन्न उवेदि सुखरोदि ।

हिंस ईक्ष जागदि सुहुं सुहुं सोखदे भंड ॥

—दि. कर्मप्रकृति गा. ५१

इस प्रकार के विषाक का अनुभव कराने वाली कर्मप्रकृति भी प्रचला कहलाती है।

स्त्यानद्विक्रिक की अपेक्षा यह दो निद्रायें मनद हैं। दर्शनावरणषट्क का जहाँ उल्लेख किया जाता है, वहाँ ये यह प्रकृतियाँ प्रहृण की जाती हैं।

इस दर्शनावरणषट्क में दो बार कही गई निद्रा और प्रचला को स्त्यानद्वि के साथ गिनने पर दर्शनावरण के नी भेद होते हैं। निद्रा से भी अतिशायिनी (अधिक तीव्र) गहरी निद्रा को निद्रा-निद्रा कहते हैं। इसके अन्दर चैतन्य अत्यन्त अस्फुट होने से अधिक आवाजें लगानी पड़ती हैं, शरीर को हिलाना-डुलाना पड़ता है तब सोया हुआ व्यक्ति प्रबुद्ध होता है। इस कारण सुखपूर्वक प्रबोध होने में हेतुभूत निद्रा कर्म-प्रकृति की अपेक्षा इस निद्रा में अतिशायित्व है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिनके उदय से ऐसी गहरी नींद आये कि वहुत सी आवाजें लगाने पर तथा हिलाने आदि के द्वारा आगना होता है, उसे निद्रा-निद्रा कहते हैं। इस प्रकार की निद्रा में हेतुभूत कर्मप्रकृति भी निद्रा-निद्रा कहलाती है।

प्रचला से अतिशायिनी जो निद्रा उसे प्रचला-प्रचला कहते हैं। ऐसी निद्रा चलते-चलते भी आने लगती है। यानी जिस कर्म के उदय से चलते-चलते जो नींद आती है, वह प्रचला-प्रचला कहलाती है।<sup>१</sup>

<sup>१</sup> दिग्मधर कर्मसाहित्य में प्रचला-प्रचला का यह लक्षण किया गया है—जिसके उदय से सींते में जीव के हाथ पैर भी चले और मुँह से लार भी गिरे—

पथलापयसुदृण य वहेरि जासा चलति जंगाइः ।

—दि. कर्मप्रकृति गा. ५०

जिससे एक स्थान पर बैठे या खड़े हुए को प्राप्त होने वाली प्रचला की अपेक्षा इस निद्रा का अतिशायित्व है।

पिछिल हुई जो आत्मशक्ति अथवा वासना जिस सुप्त स्थिति में प्राप्त हो उसे स्त्यानदि अथवा स्त्यानलिङ्ग कहते हैं। क्योंकि जब यह निद्रा आती है तब प्रथम संहनन वाले वासुदेव के बल से आधा बल इस निद्रा में उत्पन्न हो जाता है। जैसे कि किसी मनुष्य को रोग के जोर से बल उत्पन्न होता है, उसी प्रकार इस निद्रावाला अनुप्त वासना को राशि में सोले-सोते पूर्ण कर देता है। शास्त्रों में इस सम्बन्धी अनेक उदाहरणों का उल्लेख है।<sup>१</sup> स्त्यानदि के विपाक का अनुभव कराने वाली कर्मप्रकृति भी कारण में कार्य का आरोप करने से स्त्यानदि कहलाती है।

चक्रदर्शनावरण आदि चार कर्मप्रकृतियों तो मूल से ही दर्शन-अधिष्ठ का धारा करती हैं। यानी उनके उदय से चक्र-दर्शन आदि प्राप्त नहीं होते हैं अथवा उनके क्षयोपशम के अनुसार ही प्राप्त होते हैं और निद्रायें दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त दर्शनलिङ्ग को दबाती हैं।<sup>२</sup>

निद्राओं को भी दर्शनावरण में ग्रहण करने का कारण यह है कि निद्रायें छद्मस्थ को ही होती हैं और छद्मस्थ को पहले दर्शन और पश्चात जान होता है। इसलिए निद्रा के उदय से जब दर्शनलिङ्ग दबती है, तब जान तो दबेगा ही। इसलिये उनको जानावरण में न गिनकर दर्शनावरण में ग्रहण किया गया है।

१: विशेषावश्यकमध्यमें एतद् विषयकं कर्त्ता उदाहरण दिते हैं।

२ इदं च निद्रापञ्चकं प्राप्तायाः दर्शनलिङ्गेष्यपश्चात्कृत्, दर्शनावरणचक्र-  
ष्टयं तु मूलत एव दर्शनलिङ्गेरिति।

इस प्रकार के ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म की उत्तर-प्रकृतियों का वर्णन करने के पश्चात् उनके समान मोहनीय के भी धाति होने से अब मोहनीयकर्म की उत्तरप्रकृतियों को बतलाते हैं।

## मोहनीय की उत्तरप्रकृतियाँ

सोलस क्रान्ति तथा सोलस क्रान्ति दर्शनालिंग वा पीठार्थी ।

श्रावदार्थ—सोलह—सोलह, कर्तव्य—कथाए, मध्य—मी, नोहसाय—  
नोकपाय, दंसणतिर्थ—दर्शनशिक, च—ओर, मोहणीय—मोहनीय।

गार्थार्थ—सोलह कषाय, तौ नोकषाय और दर्शनविक वे सोहनीय की अटाईस प्रकृतियाँ हैं।

**विजेषार्थ**—गाथा के पूर्वार्थ में मोहनीयकर्म की उत्तरप्रकृतियों के अद्भुताईस भेदों के नाम बतलाये हैं। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

मोहनीयकर्म के दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। इनमें से चारित्रमोहनीय की अधिक प्रकृतियाँ होने और उनके सम्बन्ध में कथनीय भी बहुत होने से पहले चारित्रमोहनीय के भेदों को वस्तुता ही है कि सोलह कषाय और तव नोकषाय, इस प्रकार चारित्रमोहनीय के दो भेद हैं।

जो आत्मा के मुण्डे को कष्ट — नष्ट करे अथवा कष्ट का अर्थ है संसार और आय का अर्थ है प्राप्ति, अतः जो अनन्त संसार की प्राप्ति करने में कारण हो, उसे कषाय कहते हैं। अथवा जिसके कारण आत्मावें संसार में परिभ्रमण करें उसे कषाय कहते हैं। कषाय के मूल चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। इन चारों के भी तीव्र-ममदादि के भेद से अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और

संज्वलन ये चार-चार भेद होते हैं।<sup>१</sup> जिससे कषाय के सोलह भेद हो जाते हैं। अनन्तानुबंधी आदि के लक्षण इस प्रकार हैं—

अनन्त संसार की परम्परा की वृद्धि करने वाली कषायों को अनन्तानुबंधीकषाय कहते हैं। तीव्र राग और द्वेष, क्रोधादि से आत्मा अनन्त संसार में परिच्छमण करती है, अनन्त जन्म-मरण की परम्परा में बढ़ती है, इसें जिए ऐसी कषाय का अनन्तानुबंधी यह सार्थक नाम है।<sup>२</sup> अनन्तानुबंधीकषाय का अपर नाम संयोजना भी है। जिसका अर्थ है कि जिसके द्वारा आत्माये अनन्त भवों—जन्मों के साथ जुड़ती हैं—संयोजित होती है, यानि जिसके कारण जीव अनन्त संसार में भटकते हैं, उसे संयोजना कहते हैं। इस कषाय का उदय रहने तक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता है और पूर्व प्राप्त सम्यक्त्व भी नष्ट हो जाता है।<sup>३</sup>

जिस कषाय के उदय से स्वल्प भी प्रत्याख्यान (त्याग) दशा प्राप्त न हो, स्वल्प भी प्रत्याख्यान करने का उत्साह न हो, उसे अप्रत्याख्यानावरणकषाय कहते हैं। यथापि अप्रत्याख्यानावरणकषाय के उदय से अल्प भी विरति के परिणाम नहीं होते हैं, तथापि सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। इन सम्यक्त्वी आत्माओं को पाप-व्यापार से कूटने की इच्छा अवश्य होती है किन्तु छोड़ नहीं सकती है, त्याग नहीं कर

१ अनन्तानुबंधी आदि प्रत्यक्ष चार भेदों में से अनन्तानुबंधी अस्तित्व तीव्र और अप्रत्याख्यानावरण आदि भेदश्च उत्तरोत्तर क्रमशः भंद, भंदतर और भंदतम हैं।

२ अनन्तानुबंधन्ति यतो जन्मानि भूतये ।

ततोऽनन्तानुबन्ध्याद्याः क्रीष्णेषु नियोजिताः ॥

३ अनन्तानुबंधी—सम्यग्दर्शनोपवाती । तस्योदयादि सम्यग्दर्शने नोपद्यते, पूर्वोत्पन्नमपि च प्रतिपत्ति ।

सकती है, फिर भी पश्चात्तापमूर्ण हृदय से उन पापब्यवहारों में प्रवृत्ति करती है।

सर्वथा प्रकार से पाप-ब्यापार का रथागरूप सर्वविरति चारित्र जिसके द्वारा आवृत हो यानी जिसके उदय से सम्पूर्ण पाप-ब्यापार का त्याग न किया जा सके, उसे प्रत्याख्यानावरणकथाय कहते हैं। इस कथाय का उदय रहते आत्मा सर्वथा प्रकार से पापब्यापार का त्याग नहीं कर सकती है किन्तु देश—आंहित हयग्र कर सकती है, शावकाचार का पालन होता है किन्तु साधु अवस्था प्राप्त नहीं होती है।

परीषह, उपसर्ग आदि के प्राप्त हीने पर सर्वथा प्रकार से पाप-ब्यापार के त्यागी श्रमण—साधु को भी जो कथायें कुछ जाज्बल्यभाव करती हैं, कथायथुक्त करती हैं। अल्प प्रमाण में उनके प्रज्ञमभाव में व्यवधान डालने वाली हीने से उन्हें सञ्ज्वलनकथाय कहते हैं। सञ्ज्वलन-कथाय के उदय वाला जीव सम्पूर्ण पाप-ब्यापारों को छोड़कर सर्वविरति चारित्र प्राप्त करता है, किन्तु आत्मा के पूर्ण स्वभावरूप यथाख्यातचारित्र को प्राप्त नहीं कर सकता है।

आत्मा को बहिरात्मभाव में रोककर अन्तरात्मदशा में स्थिर न हीने देना कथायों का कार्य है। परन्तु जैसे-जैसे कथायों का वस्त्र वात्किहीन होता जाता है, तदनुरूप आत्मा बहिरात्मभाव से, पीदगतिक भावों से छूटकर अन्तरात्मदशा में स्थिर होती जाती है।

शास्त्रों में हृष्टान्त द्वारा इन चारों प्रकार की कथायों का स्वभाव इस प्रकार वतलाथा है—

सञ्ज्वलन क्रोध जल में खींची गई रेखा के सदृश, प्रत्याख्यानावरण क्रोध धूलिरेखा सदृश, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध पृथ्वीरेखा सदृश और अनन्तानुरूपी क्रोध पर्वत में आई दरार के सदृश है।

इसी प्रकार सञ्ज्वलन आदि के क्रम से मान, माया, लोभ के लिए भी प्रतीकों की योजना कर लेना चाहिये। जो इस प्रकार है—

संज्वलन मान बैत के समान नमने वाला, प्रत्याख्यानावरण मान सूखे काठ के समान प्रयत्न से नमने वाला, अप्रत्याख्यानावरण मान हड्डी की तरह सुदीर्घ प्रयत्न से नमने वाला, अनन्तानुबंधी मान पत्थर के सम्में के समान न नमने वाला है।

संज्वलन माया बास के छिलके के समान छजुता वाली, प्रत्याख्यानावरण माया चलते बैल की मूत्ररेखा के समान, अप्रत्याख्यानावरण माया भेड़ के सींगों में प्राप्त वक्रता के समान और अनन्तानुबंधी माया बांस की जड़ में रहने वाली वक्रता के समान है।

संज्वलन लोभ हल्दी के रंग के समान, प्रत्याख्यानावरण लोभ काजल के रंग के समान, अप्रत्याख्यानावरण लोभ गाढ़ी के पहिये कीचड़ के समान एवं अनन्तानुबंधी लोभ किरमिची के रंग के समान है।

इस प्रकार से कषायमीहनीय के भेदों का वर्णन करने के पश्चात् अब नौ नोकषायों के साम और उनके लक्षण बतलाते हैं—

नोकषाय शब्द में 'नो' शब्द साहचर्यवाचक अथवा देशनिषेधवाचक है। यानी जो कषायों की सहचारी हों, साथ रहकर कषायों को उत्सेजित करती हैं, उद्दीपन करती हैं, अथवा जो कषायों का सम्पूर्ण कार्य करने में असमर्थ हो, उन्हें नोकषाय कहते हैं।

**प्रश्न—**किन कषायों के साथ इनका साहचर्य है ?

**उत्तर—**ये नौ नोकषाय आदि की अनन्तानुबंधीचतुष्क, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, प्रत्याख्यानावरणचतुष्क रूप बारह कषायों की सहचारी हैं। इनके साथ साहचर्य का कारण यह है कि आदि की उत्त बारह कषायों का क्षय होने के पश्चात् नोकषायें भी क्षय हो जाती हैं। बारह कषायों का क्षय करने के पश्चात् क्षयक आत्मा इन नोकषायों का क्षय करने के लिए प्रवृत्त होती है। अथवा उदयप्राप्त

नोकषायें अवश्य ही कषायों को उद्दीप्त करती हैं। जैसे कि रति और अरति क्रमशः लोभ और क्रोध का उद्दीपन करती हैं। एतद् विषयक इलोक इस प्रकार है—

कषाय - सहस्रशिखारकषाय - प्रेरकादपि ।

हास्यादि नवकर्त्योक्ता नोकषाय कषायतः ॥

अर्थात् कषायों की सहवर्ती होने से और कषायों की प्रेरक होने से हास्यादि नवक को नोकषाय कषाय कहा जाता है। नोकषायों के नी भेद इस प्रकार है—

वेदात्रिक—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद और हास्यादिष्टक-हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्ता ।<sup>१</sup> वेदात्रिक के लक्षण इस प्रकार है—

१—जिसके उदय से स्त्री को पुरुषोपभोग की इच्छा होती है, यथा पिता की अधिकता से मधुर पदार्थों को खाने की इच्छा होती है, उसे स्त्रीवेद कहते हैं।

२—जिसके उदय से पुरुष को स्त्री के उपभोग की इच्छा होती है, जैसे कि कफ की अधिकता होने पर खट्टे पदार्थों को खाने की इच्छा होती है, उसे पुरुषवेद कहते हैं।

३—जिसके उदय से स्त्री और पुरुष दोनों के उपभोग की इच्छा होती है, जैसे कि पिता और कफ का आधिकय होने पर मणिका—खट्टमिट्टी वस्तु के खाने की इच्छा होती है, उसे नपुंसकवेद कहते हैं ।<sup>२</sup>

१ वेदमीहनीय के उदय से आत्मा को ऐन्ड्रियिक विषयों को भोगने की लालना उत्पन्न होती है। वह इच्छा मंद, मध्यम और तीव्र इस लरह तीन प्रकार की है। मंद लालना पुरुषवेद वाले की और मध्यम एवं तात्र अनुक्रम से स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के उदय वाले के होती है।

२ उत्तराध्ययन सूत्र ३।१।१ में नोकषाय के सात अथवा नी भेदों का उल्लेख है। यह विकल्प वेद का सामान्य से एक और पुरुषवेद आदि तीन भेद करके बताये हैं। लेकिन साधारणतया नोकषायमीहनीय के नी भेद प्रसिद्ध होने से यही नी नाम दिनाये हैं।

हास्यादिष्टक के लक्षण इस प्रकार हैं—

१—जिस कर्म के उदय से कारण मिलने पर अथवा बिना कारण के हँसी आती है, उसे हास्यमोहनीयकर्म कहते हैं।

२—जिस कर्म के उदय से बाह्य अपेक्षा आभ्यन्तर वस्तु के विषय में हर्ष-राग-प्रेम हो उसे रतिमोहनीयकर्म कहते हैं। अर्थात् इष्ट संयोग मिलने पर 'यह अच्छा हुआ' कि इस इष्ट वस्तु की प्राप्ति हुई, ऐसी जो आलन्द की अनुभूति है, वह रतिमोहनीयकर्म है।

३—जिस कर्म के उदय से बाह्य अथवा आभ्यन्तर वस्तु के विषय में अप्रीतिभाव पैदा हो, अनिष्ट संयोग मिलने पर 'ऐसी वस्तु का संयोग कहाँ से हुआ, उसका वियोग ही तो ठीक', इस प्रकार का खेद-भाव पैदा हो, उसे अरतिमोहनीयकर्म कहते हैं।

४—जिस कर्म के उदय से प्रिय वस्तु के वियोग आदि के कारण ढाती कूटना, आक्रमन करना, जमीन पर लोटना, लम्बी-लम्बी सांसें लेना आदि रूप मनोवृत्ति होती है, उसे शोकमोहनीयकर्म कहते हैं।

५—जिस कर्म के उदय से सनिमित्त अथवा अनिमित्त संकल्पभाव से भयभीत होना भयमोहनीयकर्म कहलाता है।

६—जिस कर्म के उदय से शुभ या अशुभ वस्तु के सम्बन्ध में जुगुप्सा—ग्लानिभाव हो, ज्ञाना हो उसे जुगुप्सामोहनीयकर्म<sup>१</sup> कहते हैं।<sup>२</sup>

१ दिग्द्वय कर्मसाहित्य में जुगुप्सामोहनीय का लक्षण इस प्रकार बताया है—

जिसके उदय से जीव अपने दोष क्षिप्राये और पर के दोष प्रगट करे—यदुदयादात्मीय दोषस्य संबरण परदोषस्य धारण सा जुगुप्सा।

—दि. कर्मप्रकृति पृ. ३३

२ इत हास्यादिष्टक के लक्षणों में सर्वत्र सनिमित्त—कारण मिलने और अनिमित्त—बिना कारण की विज्ञा कर लेनी चाहिए। सनिमित्त में

इस प्रकार से सोलह कथाय और नौ नोकथाय के भेद से चारित्र-मोहनीय के पच्चीस भेदों के लक्षण बतलाने के बाद अब दर्शनमोहनीय के तीन भेदों को बतलाते हैं—‘दंसण तिंग च मोहनीय’।

जो पदार्थ जैसा है, उसे उस रूप में समझना दर्शन है, अर्थात् तत्त्वार्थशब्दा को दर्शन कहते हैं। आत्मा के इस मुण को आवृत करने वाले—धातने वाले कर्म को दर्शनमोहनीयकर्म कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—(१) मिथ्यात्ममोहनीय, (२) मिथ्यमोहनीय और (३) सम्यक्लवमोहनीय। इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

१—जिस कर्म के उदय से वीतरागप्रलयित तत्त्वों पर अशब्दा हो, अशब्दा न हो, आत्मा के यथार्थ स्वल्प का भाव न हो, उसे मिथ्यात्ममोहनीय कहते हैं।

२—जिस कर्म के उदय से जिनप्रणीत तत्त्व की न तो यथार्थ अशब्दा हो और न अशब्दा भी हो, रुचि-अरुचि में से एक भी न हो, उसे मिथ्यमोहनीय कहते हैं।

३—जिस कर्म के उदय से जिनप्रणीत तत्त्व की सम्यक् अशब्दा हो, यथार्थ रुचि उत्पन्न हो, वह सम्यक्लवमोहनीयकर्म है।<sup>१</sup>

बाह्य निमित्त, कारण, पदार्थ का और अनिमित्त में स्पर्श रूप आर्थिक कारण—आप ग्रहण करना चाहिये। जैसे कि कीई हँसाये अथवा ऐसा कुछ दिखे कि हँसी आ जाये यह आद्यनिमित्त और पूर्वानुभूत हास्य के कारण की स्मृति आने पर हँसना यह आर्थिक निमित्त कहलाता है।

<sup>१</sup> दिगम्बर कर्मसाहित्य में मिथ्यमोहनीय और सम्यक्लवमोहनीय के लक्षण इस प्रकार बताते हैं—

जिस कर्म के उदय से जीव की तत्त्व के साथ अत्यन्त की, उन्माद के साथ उन्माद नहीं और हित के साथ अहित की निश्चित अशब्दा होती है, उसे सम्यग्मिथ्यात्म (मिथ्य) मोहनीय कहते हैं।

जिस कर्म के उदय से सम्यगदर्शन लो बना रहे, किन्तु उसमें चल-पलिन आदि शोष उत्पन्न हों, उसे सम्यक्लवमोहनीय कहते हैं।

दर्शनमोहनीय के उपशम या क्षय के पश्चात् ही चारित्रमोहनीय के उपशम या क्षय होने पर भी पहले यहाँ चारित्रमोहनीय की प्रकृतियों के क्रमविन्यास का कारण यह है कि चारित्रमोह की प्रकृतियाँ तो प्रतिपद्मानचारित्र, प्रतिपतितचारित्र अथवा अप्राप्तचारित्र वालों में से प्रत्येक को यथायोग्य प्रमाण में पाई जाती है, किन्तु दर्शनमोहधिक में से तो अप्राप्तसम्यक्त्व वालों और प्रतिपतितसम्यक्त्व वालों में से किन्हीं-किन्हीं को एक मिथ्यात्व प्रकृति ही प्राप्त होती है, न कि सदैव दर्शनधिक। इसी अर्थ को बताने के लिए पहले चारित्रमोह की प्रकृतियों का और उसके पश्चात् दर्शनमोह की प्रकृतियों का उपन्यास किया है।

इस प्रकार मोहनीयकर्म की सभी अट्ठाईस प्रकृतियों के सक्षण जानना चाहिए। अब क्रमप्राप्त आयुकर्म की तथा अल्पकर्तव्य होने से वेदनीय और गोत्र कर्म की उत्तरप्रकृतियों को बतलाते हैं—

**आयु, वेदनीय और गोत्र कर्म की उत्तरप्रकृतियाँ**

**सुरनरतिरितिरयाङ् साधासायं च नीउच्चं ॥५॥**

**शब्दार्थ—** सुरनरतिरितिरयाङ्—देव, मनुष्य, तिर्यक, नरकायु, साधासायं—साता, असाता, च—और, नीउच्चं—नीच-उच्चगोत्र।

**गाथार्थ—** देवायु, मनुष्यायु, तिर्यकायु और नरकायु यह आयुकर्म के चार भेद हैं। साता और असाता के भेद से वेदनीयकर्म के दो भेद तथा नीच और उच्च यह गोत्र के दो भेद हैं।

**विशेषार्थ—** गाथा के पूर्वार्थ में मोहनीयकर्म के भेदों को बताया था और उत्तरार्थ में आयु, वेदनीय और गोत्र कर्म की क्रमशः चार, दो, दो उत्तरप्रकृतियों के नाम बतलाये हैं। उनमें से आयुकर्म की चार उत्तरप्रकृतियों के नाम ये हैं—

देवायु, मनुष्यायु, तिर्यकायु और नरकायु।

जिस कर्म के उदय से आत्मा अमुक नियत काल तक देव, मनुष्य, तिर्यच और नरक पर्याय में बनी रहे, उसे देवायु, मनुष्यायु, तिर्यचायु और नरकायु कर्म कहते हैं। आयुकर्म अमुक भूति में अमुक काल पर्यन्त आत्मा की स्थिति बनाये रखने में एवं उस गति के अनुरूप कर्मों का उपभोग कराने में हेतु है।

आयुकर्म के देव, मनुष्य, तिर्यच और नरक आयुभेदों में से सांसारिक सुख की प्रधानता बताने के लिए पहले देवायु और उसके बाद उत्तरोत्तर सुख की अल्पता बताने के लिए मनुष्य, तिर्यच और नरक आयुओं का उपन्यास किया है।

इस प्रकार से आयुकर्म के चार भेदों का लक्षण जानना चाहिए। अब वेदनीय और गोत्रकर्म की दो ऐप्रकृतियों के लक्ष्य वर्तलागते हैं।

वेदनीयकर्म के दो उत्तरभेद इस प्रकार हैं—सातावेदनीय, असातावेदनीय।

जिस कर्म के उदय से जीव आरोग्य और विषयोपभोगादि इष्ट साधनों के द्वारा उत्पन्न आळाद रूप सुख का अनुभव करता है, वह सातावेदनीय है और जिस कर्म के उदय से रोग आदि अनिष्ट साधनों द्वारा उत्पन्न हुए खेद रूप दुःख का अनुभव करे उसे असातावेदनीय कहते हैं।

गोत्रकर्म की दो प्रकृतियों के नाम हैं—उच्चगोत्र और नीचगोत्र। इनमें से जिस कर्म के उदय से उत्तम जाति, कुल, बल, ऐश्वर्य, श्रूत, सत्कार, अस्युत्थान, अंजलिप्रग्रह आदि सम्भव हो, उसे उच्चगोत्र कहते हैं और जिस कर्म के उदय से ज्ञानादि युक्त होने पर भी निन्दा हो और हीत कुल, जाति आदि आदि सम्भव हो वह नीचगोत्र कहलाता है। उच्चगोत्र के उदय से जीव उच्च कुल, उच्च जाति में जन्म लेता है। जिसके कारण तप, ऐश्वर्य आदि प्रायः सुलभ होता है और नीचगोत्र के उदय से नीच कुल, नीच जाति में जन्म घारण करता है, उसमें तप, ऐश्वर्य आदि प्रायः दुर्लभ है।

इस प्रकार आम् देवतीय और तीव्र कर्म की घार, दो, दो उत्तर-प्रकृतियों जानना चाहिए।

जानावरण आदि सात कर्मों की उत्तरप्रकृतियों के भेदों को बताने के पश्चात अब शेष रहे नामकर्म की उत्तरप्रकृतियों का निरूपण करते हैं।

### नामकर्म की उत्तरप्रकृतियां

गद्याइसरीरं बंधनं संधायणं च संघयणं ।

संठाणं वस्त्रगंधरसफासं अणुपुष्टिव विहगगई ॥६॥

**शब्दार्थ**—गद्याइसरीरं—गति, जाति, शरीर, अंगोधांग, बंधन—बंधन, संधायण—संधायण, च—और, संघयण—संहनन, संठाण—संस्थान, वस्त्रगंधरसफास—वर्ण, गंध, रस, स्पृश्म, अणुपुष्टि—अणुपुष्टि, विहगगई—विहायोगति ।

**गाथार्थ**—गति, जाति, शरीर, अंगोधांग, बंधन, संधायण, संहनन, संस्थान, वर्ण, गंध, रस, स्पृश्म, आनुपुष्टि और विहायोगति, ऐ नामकर्म की चौदह पिंड प्रकृतियाँ हैं।

**विशेषार्थ**—अन्य सात कर्मों की अपेक्षा नामकर्म की उत्तरप्रकृतियों की संख्या सबसे अधिक है। जिनको पिंडप्रकृति और प्रत्येक-प्रकृति इन दो वर्गों में विभाजित करके निरूपण किया गया है। इस गाथा में पिंडप्रकृतियों के नाम बतलाये हैं।

जिनके और अबान्तर भेद हो सकते हैं, उन्हें पिंडप्रकृति कहते हैं। ऐसी पिंडप्रकृतियों की संख्या चौदह है। अबान्तर भेदों के नाम सहित जिनके लक्षण इस प्रकार हैं।

**गति**—तथाप्रकार के कर्मप्रधान जीव द्वारा जो प्राप्त की जाये अथवा तथाप्रकार के कर्म द्वारा जीव जिसको प्राप्त करे, उसे गति

कहते हैं।<sup>१</sup> यद्यपि शरीर, संहनन आदि सभी कर्मों द्वारा प्राप्त होते हैं तथापि गति यह रूप अर्थवाली होने से आत्मा की जो नारकत्व आदि पर्याय होती है, इसी अर्थ में गति शब्द का उपयोग होता है। गति के चार भेद हैं। (१) नरकगति, (२) तिर्यच्यगति, (३) मनुष्यगति और (४) देवगति।<sup>२</sup> मनुष्यत्व, देवत्व आदि रूप उस-उस पर्याय के होने में हेतुभूत जो कर्म उसे तत्त्व गति नामकर्म कहते हैं। जैसे कि जिस कर्म के उदय से आत्मा को देव पर्याय की प्राप्ति हो उसे देवगति नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार मनुष्यगति 'आदि' के लक्षण भी समझ लेना चाहिये।

**जाति**—अनेक भेद-प्रभेद वाले एकेन्द्रिय आदि जीवों का एकेन्द्रियत्व आदि रूप जो समान—एक जैसा परिणाम कि जिससे अनेक प्रकार के एकेन्द्रियादि जीवों का एकेन्द्रियादि के रूप में व्यवहार हो, ऐसे सामान्य को जाति और उसके कारणभूत कर्म को जातिनामकर्म कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि द्रव्यरूप बाह्य और आभ्यंतर नासिका, कर्ण आदि इन्द्रियों तो अंगोपांग नामकर्म और इन्द्रियपर्याप्ति नामकर्म के सामर्थ्य से और भावेन्द्रियों लार्णादि इन्द्रियवरणकर्म के क्षयोपशाम से सिद्ध है। परन्तु यह एकेन्द्रिय है, यह द्विन्द्रिय है, इस प्रकार के शब्दव्यवहार में कारण तथाप्रकार का समान परिणाम रूप जो सामान्य, वह अन्य से असाध्य होने से, उसका कारण जातिनामकर्म है।<sup>३</sup> उसके पांच-

१ दिग्म्बर कर्मसाहित्य में गतिनामकर्म का लक्षण यह बताया है—जिसके उदय से जीक भावान्तर को जाता है—

यदुद्याऽत्रीक्षः भवान्तरं पश्चुतिः सा गतिः।

—दि. कर्मप्रकृति दृ. ३५

२ नारकतैर्यंग्रोनमानुष्वदिकानि।

—सहस्रार्थसूत्र दा११

३ चेतनाशक्ति के विकास के सारतम्य की व्यवहार में जातिनामकर्म कारण है। जैसे कि एकेन्द्रिय की अपेक्षा द्विन्द्रिय में चेतना का विकास अधिक है; इसी प्रकार उससे उसके भ्रमशः भ्रिन्दिय आदि के लिए समझ लेना चाहिये।

भेद है—(१) एकेन्द्रिय जातिनामकर्म, (२) द्वीन्द्रिय जातिनामकर्म, (३) श्रीन्द्रिय जातिनामकर्म, (४) चतुरन्द्रिय जातिनामकर्म, (५) पञ्चेन्द्रिय जातिनामकर्म। जिस कर्म के उदय से अनेक भेद-प्रभेद वाले एकेन्द्रिय जीवों में ऐसा समान परिणाम हो कि जिससे उन सभी को यह कहा जाये कि यह एकेन्द्रिय है ऐसा सामान्य नाम से व्यवहार हो उसे एकेन्द्रिय जातिनामकर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से अनेक भेद वाले द्वीन्द्रिय जीवों में ऐसा कोई समान बाह्य आकार हो कि जिसके कारण ये सभी जीव द्वीन्द्रिय हैं, ऐसा सामान्य नाम से व्यवहार हो उसे द्वीन्द्रिय जातिनामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार श्रीन्द्रियादि जातिनामकर्मों का अर्थ समझ लेना चाहिए।<sup>१</sup>

**शरीर**—जो जीर्ण-शीर्ण हो, सुख-दुःख के उपभोग का जो साधन हो, उसे शरीर कहते हैं। उसके पांच भेद हैं—(१) औदारिकशरीर, (२) वैकियशरीर, (३) आहारकशरीर, (४) तैजसशरीर, (५) कार्मणशरीर।<sup>२</sup> इन औदारिक आदि शरीरों की प्राप्ति में हेतुभूत जो कर्म, उसे शरीरनामकर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से औदारिकशरीर योग्य पुदगलों का ग्रहण करके औदारिकशरीर रूप में परिणत करे और परिणत करके जीवप्रदेशों के साथ एकाकार रूप से संयुक्त करे उसे औदारिकशरीरनामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार शेष वैकिय आदि शरीरनामकर्मों की व्याख्या कर लेना चाहिए कि औदारिक आदि

१ गति और जाति नामकर्मों को पृथक्-पृथक् भानने के कारण को परिणिष्ठ में स्पष्ट किया है।

२ इन औदारिक आदि पांच शरीरों में से औदारिक, वैकिय, आहारक, तैजस, ये चार नीकर्मशरीर हैं और कार्मण कर्मशरीर है—

बोधालिय वेदान्धिय आहारय तेजणामकम्मुदार ।

चउणोकम्मसरीरा कम्मेव य होइ कम्मदृयं ॥

—वि. कर्मप्रकृति पु. ३६

तस्तु शरीरों की प्राप्ति में औदारिक आदि नामकर्म कारण हैं। जिसका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

तस्तु शरीरनामकर्म का उदय होने पर उस-उस शरीर के थोथ्य लोक में विद्यमान पुद्गलों को ग्रहण करके उनको उस शरीर रूप में परिणत करना शरीरनामकर्म का कार्य है। जैसेकि औदारिक शरीरनामकर्म का उदय होने पर औदारिकवर्णण में से पुद्गलों को ग्रहण करके जीव उन्हें औदारिक रूप परिणति करता है। कभी कारण है और शरीर कार्य है। कर्म कार्मणवर्णण का परिणाम है और औदारिकादि शरीर औदारिक आदि वर्णणाओं के परिणाम है।

औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस नामकर्म का उदय होता है तब औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस वर्णणाओं में से पुद्गलों को ग्रहण करके तस्तु शरीर का निर्मण होता है। इसी प्रकार कार्मण शरीरनामकर्म के द्वारा कार्मणवर्णण में से पुद्गलों को ग्रहण करके उन्हें कर्मरूप से परिणत किया जाता है।

यद्यपि कार्मणशरीरनामकर्म भी कार्मणवर्णणाओं का परिणाम है और कार्मणशरीर भी कार्मणवर्णणाओं से ही बना हुआ है। जिससे ये दोनों एक जैसे मालूम पड़ते हैं। परन्तु वैसा नहीं है, दोनों भिन्न-भिन्न हैं। कार्मणशरीरनामकर्म, नामकर्म की उत्तरप्रकृतियों में से एक प्रकृति है और कार्मणवर्णणाओं को ग्रहण करने में हेतु है। जब तक कार्मणशरीरनामकर्म का उदय है, तब तक ही कार्मणवर्णणाओं में से कर्मयोग्य पुद्गलों को आत्मा ग्रहण कर सकती है तथा आत्मा के साथ एकाकार हुई आठों कर्मों की अनन्त वर्णणाओं के पिंड का नाम कार्मण-शरीर है। कार्मणशरीर अवश्य ही और कर्म की प्रत्येक उत्तरप्रकृतियों उसकी अवश्य है। कार्मणशरीरनामकर्म वंश में से आठवें गुणस्थान के छठे भाग में, उदय में से तेरहवें गुणस्थान में और सत्ता में से चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में विष्णुद को प्राप्त होता है। जबकि कार्मणशरीर का सम्बन्ध चौदहवें गुणस्थान के चरम समय पर्यन्त है,

कार्मणशरीरनामकर्म का उदय तेरहवें गुणस्थान तक ही होता है, जिससे वहाँ तक ही कर्मयोग्य पुद्गलों का ग्रहण होता है, चौदहवें गुणस्थान में नहीं होता है। किन्तु कार्मणशरीरनामकर्म का कार्य कार्मणशरीर चौदहवें गुणस्थान के धरम समय पर्यन्त होता है।

**अंगोपांग**—गाथागत अंग शब्द से अंगोपांग पद को ग्रहण करता आहिए। मस्तक आदि अंग कहलाते हैं। वे आठ हैं और उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) मस्तक, (२) वक्षस्थल (छाती), (३) पेट, (४) पीठ, (५-६) दो बाहें और (७-८) दो जंधायें।

इनके अवयव रूप अंगुली, नाक, कान आदि को उपांग और इन अंगोपांगों के भी अवयव रूप नख, केश आदि को अंगोपांग कहते हैं। व्याकरण के नियम से अंग-उपांग का समास करने पर अंगोपांग और उसके साथ अंगोपांग का समास करने एवं एक अंगोपांग का लोप हो जाने पर अंगोपांग शब्द द्वेष रहता है।

जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में अंग—हाथ आदि, उपांग—अंगुली आदि और अंगोपांग—नख, केश आदि रूप में पुद्गलों का परिणमन हो, उसको अंगोपांगनामकर्म कहते हैं। औदारिक, वैक्तिय और आहारक इन तीनों शरीरों में अंगोपांग होते हैं। अतः अंगोपांग-नामकर्म के तीन भेद होते हैं—(१) औदारिक अंगोपांग, (२) वैक्तिय अंगोपांग, (३) आहारक अंगोपांग।

तैजस और कार्मण शरीर जीव की आकृति के अनुरूप होने से उनमें अंगोपांग नहीं होते हैं किन्तु औदारिक आदि तीन शरीरों की आकृतियों का वे अनुकरण करते हैं, जिससे इन तीनों में अंगोपांग पाये जाते हैं।

जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर रूप में परिणत हुए पुद्गलों का औदारिक शरीर के योग्य अंग-उपांग और अंगोपांग का स्पष्ट

यिभाग रूप में परिणमन हो उसे औदारिक अंगोपांगनामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार वैक्रिय और आहारक अंगोपांगनामकर्मों का स्वरूप समझ लेना चाहिए।

**बंधन**—जिस कर्म के उदय से पूर्व ग्रहीत और गुह्यभाष औदारिक आदि पुद्यगलों का परस्पर सम्बन्ध हो, उसे बंधननामकर्म कहते हैं। इसके पांच भेद हैं। जिनका स्वरूप आगे स्पष्ट किया जायेगा। बंधननामकर्म आत्मा और पुद्यगलों का व्यथा परस्पर पुद्यगलों का एकाकार सम्बन्ध होने में कारण है।

**संघर्तन**—जिस कर्म के उदय से औदारिकादि पुद्यगल औदारिकादि शरीर की रचना का अनुसरण करके पिण्डरूप होते हैं, उसे संघर्तननामकर्म कहते हैं। इसके भी पांच भेद हैं, जिनका स्वरूप आगे कहा जायेगा।

**संहनन**—हड्डियों की रचनाविशेष को संहनन कहते हैं और वह औदारिक शरीर में ही पाया जाता है। क्योंकि औदारिक शरीर के सिवाय अन्य वैक्रिय आदि किसी शरीर में हड्डियाँ नहीं होती हैं, जिससे उनमें संहनन भी नहीं पाया जाता है। हड्डियों के मजबूत या शिथिल व्यवहन होने में संहनननामकर्म कारण है। उसके छह भेदों के नाम इस प्रकार हैं—(१) वज्रशृष्टभनाराच संहनन, (२) शृष्टभनाराच संहनन, (३) नाराच संहनन, (४) अर्धनाराच संहनन, (५) कीलिका संहनन और (६) सेवार्त संहनन। जिनके लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) वज्र शब्द का अर्थ है कील, शृष्ट का अर्थ है हड्डियों को लपेटने वाली पट्टी और नाराच का अर्थ है मर्कटबंध। अतः जिस संहनन में दो हड्डियाँ दोनों बाजुओं से मर्कटबंध से बंधी हुई हों और पट्टी के आकार वाली तीसरी हड्डी के द्वारा लिपटी हों और इन तीनों हड्डियों को भेदने वाली हड्डी की कीली लगी हुई हो। ऐसे मजबूत वंश को वज्रशृष्टभनाराच कहते हैं और इस प्रकार के मजबूत वंश

होने में हेतुभूत जो कर्म हो वह अज्ञानाराच संहनननामकर्म कहलाता है।

(२) जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचनाविशेष में दोनों तरफ मर्कटबंध हो और तीसरी हड्डी का बेठन भी हो, लेकिन तीनों हड्डियों को भेदने वाली कीली सरीखी हड्डी न हो, उसे अष्टभ-नाराच कहते हैं और इस प्रकार के बन्धन में हेतुभूत कर्म को अष्टभ-नाराच संहनननामकर्म कहते हैं।

(३) हड्डियों की जिस रचनाविशेष में दो हड्डियां मात्र मर्कट-बंध से भवी हुई हों, उसे नाराच कहते हैं और उसके हेतुभूत कर्म को नाराच संहनननामकर्म कहते हैं।

(४) जिसके अन्दर एक बाजू मर्कटबंध है और दूसरी बाजू हड्डी स्थ कीली का बंध हो उसे अर्धनाराच कहते हैं और उसका हेतुभूत कर्म अर्धनाराच संहनननामकर्म कहलाता है।

(५) हड्डियों की जिस रचनाविशेष में मर्कटबंध और बेठन न हो, मात्र कीली से हड्डियां जुड़ी हुई हों, उसे कीलिका कहते हैं और उसका हेतुभूत कर्म कीलिका संहनननामकर्म कहलाता है।

(६) जिस अस्थिरचना में हड्डियों के सिरे-छोर परस्पर स्पर्श करते हुए हों और जो हमेशा तेलमर्दन आदि की अपेक्षा रखता है उसे सेवार्त संहनन<sup>१</sup> और उसके हेतुभूत कर्म को सेवार्त संहनननाम-कर्म कहते हैं।

**संस्थास—अथर्व आकारविशेष** । यहण किये हुए शरीर की रचना के अनुसार व्यवस्थित और परस्पर संबद्ध हुए औद्वारिक आदि पुदगलों

१ अष्टभनाराच, कीलिका और सेवार्त संहनन के लिए विगम्बर कर्मसाहित्य में व्यवनाराच, कीलित और अस्प्राप्तस्थपाटिका संहनन शब्द का प्रयोग किया जाता है।

में संस्थान-आकारविशेष जिस कर्म के उदय से उत्पन्न होता है, उसे संस्थाननामकर्म कहते हैं। शरीर का अमुक-अमुक प्रकार का आकार बनने में संस्थाननामकर्म कारण है। उसके छह भेद इस प्रकार हैं—

(१) समचतुरस्र, (२) व्यग्रोष्परिमण्डल, (३) सादि, (४) कुञ्ज, (५) वामन और (६) हुण्ड। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) सामुद्रिकशास्त्र में बताये गये लक्षण और प्रमाण से अविसंवादी चारों दिग्विभाग जिस शरीर के अवयवों में समान हों, उसे समचतुरस्र कहते हैं। यानी जिस शरीर में सामुद्रिकशास्त्र में जिस प्रकार से शरीर का प्रमाण और लक्षण कहा है उसी रूप में शरीर का प्रमाण और लक्षण हो तथा पालथी मारकर बैठने से जिस शरीर के चारों कोण समान हों, यानी आसन और कपाल का अन्तर, दोनों शुटनों का अन्तर, दाहिने कन्धे और बायें जानु का अंतर, बये कन्धे और दाहिने जानु का अन्तर समान हो, उसे समचतुरस्रसंस्थान कहते हैं और इसका हेतुभूत जो कर्म वह समचतुरस्र संस्थाननामकर्म कहलाता है।

(२) व्यग्रोष्प—बटवृक्ष के जैसा परिमण्डल-आकार जिस शरीर में हो उसे व्यग्रोष्परिमण्डल कहते हैं। अथवा जैसे बटवृक्ष का ऊपरी भाग शाखा, प्रशाखा और पत्तों आदि से सम्पूर्ण प्रमाणवाला सुशोभित होता है और नीचे का भाग हीन (सुशोभित नहीं) होता है, उसी प्रकार जिस शरीर में नाभि से ऊपर के अवयव सम्पूर्ण लक्षणयुक्त और प्रमाणोपेत हों और नाभि से नीचे के अवयव लक्षणयुक्त एवं प्रमाणोपेत न हों, वह व्यग्रोष्परिमण्डल संस्थान कहलाता है और उसके हेतुभूत कर्म को व्यग्रोष्परिमण्डल संस्थाननामकर्म कहते हैं।

(३) तीसरे संस्थान का नाम सादि है। जो संस्थान आदि सहित ही उसे सादि कहते हैं। यही आदि शब्द से उत्सेष जिसकी संज्ञा है, ऐसा नाभि से नीचे का भाग ग्रहण करना चाहिये। जिससे आदि—नाभि से नीचे का वैहभाग यथोक्त प्रमाण, लक्षणोपेत हो, उसे सादि

कहते हैं। यद्यपि नाभि से नीचे के देहभागयुक्त तो सभी शरीर हैं, तथापि सादित्व विशेषण की अन्यथा अनुपयति से उक्त विशिष्ट अर्थ प्रहण करना चाहिये। जिसका अर्थ यह हुआ कि जिसमें नाभि से नीचे के शरीर-अवयव तो यथोक्त प्रमाण और लक्षण युक्त हों और नाभि से ऊपर के अवयव यथोक्त प्रमाण और लक्षण युक्त न हों उसे सादि संस्थान कहते हैं।

कुछ दूसरे आचार्य सादि शब्द के स्थान पर 'साचि' शब्द का प्रयोग करते हैं। इस शब्दप्रयोग के अनुसार साचि शब्द का शालम-लीवृक्ष (सेमल) यह अर्थ होता है। अतः जो संस्थान साचि जैसा हो अर्थात् जैसे शालमलीवृक्ष का स्कन्ध अतिपुष्ट और सुन्दर होता है और ऊपर के भाग में उसके अनुरूप महान् विशालता नहीं होती है, उसी प्रकार जिस संस्थान में शरीर का अधोभाग परिपूर्ण हो और ऊपर का भाग अवयवकार का न हो उसे साचिसंस्थान कहते हैं; उसका हेतुभूत जो कर्म है सादिसंस्थान<sup>१</sup> नामकर्म कहलाता है।

(४) जिसमें मस्तक, ग्रीवा, हस्त, पाद आदि अवयव प्रमाण और लक्षण युक्त हों, किन्तु वक्षस्थल और उदर आदि अवयव कुबड़युक्त हों उसे कुञ्जसंस्थान कहते हैं। उसका हेतुभूत कर्म कुञ्जसंस्थान नामकर्म कहलाता है।

(५) जिस शरीर में वक्षस्थल, उदर आदि अवयव तो प्रमाणोपेत हों किन्तु हस्तपादादिक हीनतायुक्त हों, वह वामनसंस्थान है और उसका हेतुभूत कर्म वामनसंस्थान नामकर्म कहलाता है।

(६) जिस संस्थान में शरीर के सभी अवयव प्रमाण और लक्षण से हीन हों, बेड़ील हों वह हुंडसंस्थान है और ऐसे संस्थान के हीने में हेतुभूत जो कर्म वह हुंडसंस्थान नामकर्म कहलाता है।

बर्ण—जिसके द्वारा शरीर अलंकृत किया जाये, उसे बर्ण कहते

<sup>१</sup> दिसम्बर साहित्य में इसके लिए स्वातिसंस्थान शब्द का प्रयोग किया गया है।

हैं। वह श्वेत, पीत, रक्त, नील और कुल्लन के भेद से पांच प्रकार का है। शरीरों में तत्त्व प्रकार के वर्णों को उत्पन्न करने का कारणभूत कर्म भी पांच प्रकार का है। उनमें से जिस कर्म के उदय से प्राणियों के शरीर में बगुला, हस आदि जैसा इवेत वर्ण होता है, वह श्वेतवर्ण नामकर्म है। इसी प्रकार से अन्य वर्णनामकर्मों का अर्थ भी समझ लेना चाहिये। शरीर में अमुक-अमुक प्रकार का वर्ण-रंग होने में वर्ण-नामकर्म कारण है।

**गंध**—‘वस्त’ और ‘गंध’ धातु अर्द्धन अर्थात् सूंधने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। अतः ‘गम्भ्यते आद्यायते इति गंधः’ अर्थात् जो नासिका के द्वारा सूंधा जाये, नासिक का विषय हो, उसे गंध कहते हैं। वह दो प्रकार का है— (१) सुरभिगंध और (२) दुरभिगंध। इन दोनों प्रकार की गंधों का कारणभूत नामकर्म भी दो प्रकार का है। उनमें से जिस कर्म के उदय से प्राणियों के शरीरों में कमल, मालती पुष्प आदि के सहित सुरभिगंध उत्पन्न होती है, वह सुरभिगंध नामकर्म है और जिस कर्म के उदय से जीवों के शरीर में लहसुन, हींग आदि जैसी खाराब व बुरी गंध उत्पन्न होती है उसे दुरभिगंध नामकर्म कहते हैं। अच्छी अथवा बुरी गंध होने में यंत्र नामकर्म कारण है।

**रस**—‘रस’ धातु आस्वादन और स्नेहन के अर्थ में है। अतः ‘रस्यते आस्वाद्यते इति रसः’ अर्थात् जिसका स्वाद लिया जा सके उसे रस कहते हैं। वह तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल और मधुर के भेद से पांच प्रकार का है। शरीर में इन रसों की उत्पत्ति का कारणभूत नामकर्म भी पांच प्रकार का है। उनमें से जिस कर्म के उदय से जीवों के शरीरों में मिर्ची आदि के समान तिक्त (चरपरा) रस उत्पन्न होता है, उसे तिक्तरस नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार शेष रस नामकर्मों का भी लक्षण समझ लेना चाहिए।

**स्पर्श**—‘सूप’ और ‘स्पर्श’ धातु छूने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। अतः ‘स्पृश्यते इति स्पर्शः’ अर्थात् जो सूपा जाये, स्पर्शनेन्द्रिय का विषय हो, उसे स्पर्श कहते हैं। वह कर्कश, मृदु, लच्छ, गुरु, स्निग्ध, रुक्ष,

शीत और उष्ण के भेद से आठ प्रकार का है। इस स्पर्श का कारणमूलत नामकर्म भी आठ भेद वाला है। उनमें से जिसके उदय से प्राणियों के शरीरों में पाषाण आदि के समान कक्षता उत्पन्न होती है, वह कक्षता नामकर्म है। इसी प्रकार शेष स्पर्श नामकर्मों का अर्थ समझ लेना चाहिए। शरीर में तत्त्व प्रकार का स्पर्श होने में स्पर्श नामकर्म कारण है।<sup>१</sup>

**आनुपूर्वी—**कूर्पर, लांगल और गोमूत्रिका के आकार रूप से क्रमशः दो, तीन और चार समय प्रमाण विग्रह द्वारा एक भव से दूसरे भव में जाते जीव की आकाशप्रदेश की श्रेणी के अनुसार जो गति होती है उसे आनुपूर्वी कहते हैं। उस प्रकार के विपाक द्वारा वेद्य यानी उस प्रकार के कल का अनुभव कराने वाली जो कर्मप्रकृति वह आनुपूर्वी नामकर्म है। वह चार प्रकार की है—(१) नरकगत्यानुपूर्वी, (२) तिर्यचगत्यानुपूर्वी, (३) मनुष्यगत्यानुपूर्वी और (४) देवगत्यानुपूर्वी। उनमें से जिस कर्म के उदय से वज्ञगति के द्वारा मरक में जाते हुए जीव की आकाशप्रदेश की श्रेणी के अनुसार गति होती है, उसे नरकगत्यानुपूर्वी नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार शेष तीन आनुपूर्वी नामकर्म का अर्थ समझ लेना चाहिए। विग्रहगति के सिवाय जीव इच्छानुकूल जैसा जा सकता है परन्तु विग्रहगति में तो आकाशप्रदेश की

१ वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श नामकर्म की सभी प्रकृतियाँ धूतोदया होने से प्रत्येक जीव के प्रतिसमय उदय में होती हैं। जिसमें यह शंका हो सकती है कि श्वेत और कुण्ड ऐसी पररूपर विरोधी प्रकृतियों का एक साथ उदय कैसे हो सकता है? तो इसका उत्तर यह है कि ये सभी प्रकृतियाँ शरीर के अमुक-अमुक भाग में अपना-अपना कार्य करके कृतार्थ होती हैं। जैसे कि बालों का वर्ण कृष्ण, खून का लाल, दात आदि का श्वेत, पित का पीला या हरा वर्ण होता है। इसी प्रकार गंध आदि के लिए भी समझ लेना चाहिये।

श्रेष्ठी के अनुसार ही जीव की मति होती है और उसमें आनुपूर्वी नामकर्म कारण है।<sup>१</sup>

**विहायोगति—विहायस्—आकाश द्वारा होने वाली गति विहायोगति कहलाती है।**

इस पर जिलाटु धृत करता है—

प्रज्ञन—आकाश के सर्वव्यापक होने से आकाश के सिवाय मति होना सम्भव नहीं है तो फिर विहायस् यह विशेषण किसलिए ग्रहण किया गया है। क्योंकि व्यवच्छेद—पृथक् करने योग्य वस्तु का अभाव है, विशेषण का प्रयोग प्रायः एक वस्तु से दूसरी वस्तु को अलग बताने के लिए किया जाता है और यहीं आकाश के सिवाय अन्यथा गति संभव नहीं होने से कोई व्यवच्छेद नहीं है। इसलिये विहायस् यह विशेषण क्यर्थ है।

उत्तर—यहीं विहायस् विशेषण नामकर्म की प्रथम प्रकृति गति-नामकर्म से पार्थक्य बताने के लिए प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि यहीं मात्र गतिनामकर्म इतना ही कहा जाता तो शंका हो सकती थी कि पहले गतिनामकर्म कहा जा चुका है तब यहीं पुनः किसलिए कहा है। अतः इस शंका का निवारण करने के लिए विहायस् यह सार्थक विशेषण दिया गया है। जिसने यह स्पष्ट हो सके कि जीव चलता है, मति करता है, उस गति में विहायोगति नामकर्म कारण है। परन्तु नारकादि पर्याय होने में हेतु नहीं है।

उसके दो भेद हैं—(१) शुभ विहायोगति, (२) अशुभ विहायोगति। जिस कर्म के उदय से हंस, हाथी और बैल जैसी सुन्दर गति—चाल प्राप्त हो उसे शुभ विहायोगति नामकर्म और जिस कर्म के उदय से गधा,

१ दिगम्बर साहित्य में आनुपूर्वी नामकर्म का वर्णण इस प्रकार बताया है—

जिसके उदय से विप्रहति में जीव का आकार पूर्व शरीर के समान बनता रहे—पूर्वशरीरकाराधिनाशो पस्योवयाद् भवति तदानुपूर्वी नाम।

ऑट आदि जैसी अनुसंधानियों की गति—लाल की प्रकृति है उसे अनुसंधानियों द्वारा कहते हैं।

इस प्रकार से चौदह पिंडप्रकृतियों के लक्षण जानना चाहिये। इन चौदह पिंडप्रकृतियों के अवान्तर भेद पैसठ होते हैं।

अब प्रत्येक प्रकृतियों को बतलाते हैं। उनके दो भेद ये हैं—(१) सप्रतिपक्ष और (२) अप्रतिपक्ष। जिसकी विरोधिनी प्रकृति तो हो किम्तु अवान्तर भेद नहीं हो सकते हैं, उसे सप्रतिपक्ष प्रत्येक प्रकृति कहते हैं जैसे अस-स्थावर आदि तथा जिसकी विरोधिनी प्रकृति एवं अवान्तर भेद भी न हों उसे अप्रतिपक्ष प्रत्येक प्रकृति कहते हैं, जैसे कि अगुरुलघु इत्यादि। इन दो प्रकार की प्रत्येक प्रकृतियों में अल्पवक्तव्य होने से पहले अप्रतिपक्ष प्रत्येक प्रकृतियों का स्वरूप बतलाते हैं—

अगुरुलहु उवधार्यं परम्पात्सासायवुज्जोर्य ।

निर्माणं तिथ्यनामं चोहसं अङ्गं पिङ्गपत्तेया ॥७॥

**शब्दार्थ—**अगुरुलहु—अगुरुलघु, उवधार्य—उपधात, परम्पा—परम्पात्, तिथ्यनाम—उच्छ्वास, आयवुज्जोर्य—आतप, उच्चोत, निर्माण—निर्माण, तिथ्यनाम—तीर्थकर नाम, चोहसं—चौदह, अङ्ग—भाठ, पिङ्ग—पिंडप्रकृतियों, पत्तेया—प्रत्येक प्रकृतियों।

**गाथार्थ—**अगुरुलघु, उपधात, परम्पात् उच्छ्वास, आतप, उच्चोत, निर्माण और तीर्थकर नाम ये आठ प्रत्येक प्रकृतियों हैं और पूर्वगाथा में कही गई चौदह पिंड प्रकृतियों जानना चाहिये।

**विशेषार्थ—**पूर्व गाथा में चौदह पिंड प्रकृतियों को बतलाने के बाद यहाँ अप्रतिपक्ष आठ प्रत्येक प्रकृतियों के नाम बतलाये हैं। जिनके नाम और लक्षण इस प्रकार हैं—

**अगुरुलघु—**जिस कर्म के उदय से जीवों के शरीर न तो बहुत भारी, न बहुत लघु हों और न गुरुलघु हों, किम्तु यथायोग्य अगुरुलघु परिणाम में परिणत हों, उसे अगुरुलघु नामकर्म कहते हैं।

अगुरुलघु नामकर्म का सम्पूर्ण शरीराधित विपाक होता है। उसके

उदय से न तो सम्पूर्ण शरीर लोहे के गोले जैसा भारी और न ही जैसा हल्का और न शरीर का अमुक भाग गुह या अमुक भाग लघु होता है। किन्तु न भारी न हल्का, ऐसा अगुहलघु परिणाम वाला होता है। स्पर्श नामकर्म के गुह और लघु जो दो भेद कहे हैं, वे शरीर के अमुक-अमुक अवयव में ही अपनी शक्ति बतलाते हैं। जैसे कि हड्डी आदि में गुहता और बाल आदि में लघुता होती है। इन दोनों स्पर्श-नामकर्म का विपक्ष समस्त शरीराभित नहीं है।

**उपधात**—जिस कर्म के उदय से शरीर के अवयवों में ही वृद्धि को प्राप्त प्रतिजिह्वा, गलवृद्धि, गांठ—कंठमाल, चौरदल आदि के द्वारा प्राणी उपधात को प्राप्त हो, दुखी हो अथवा स्वयंकृत उद्वेष्य (फाँसी लगाना), भैरवप्रपात (पर्वत आदि से छलांग लगाना) आदि के द्वारा पर जाना उपधात नामकर्म कहलाता है।

**पराधात**—जिस कर्म के उदय से जीव ओजस्वी हो कि वहे-वहे महाराजाओं की सभा में जाने पर भी अपने दर्शनमात्र में अथवा वचन सौष्ठुदता में उस सभा के सदस्यों को आस उत्पन्न करे, क्षेत्र पैदा करे और प्रतिवादी की प्रतिभा का धात करे, उसे पराधात नामकर्म कहते हैं।<sup>1</sup>

**उच्छ्रवास**—जिस कर्म के उदय उच्छ्रवास-निच्छ्रवासलब्धि (इवासोच्छ्रवासलब्धि) उत्पन्न होती है, वह उच्छ्रवास नामकर्म है।

यहाँ जिज्ञासु का प्रश्न है—

१ दिग्मवर कर्मसाहित्य में पराधात नामकर्म का यह लक्षण किया है—‘परेषां धातः परधातः। यदुदयातीक्ष्णश्रु॑ गद्यविद्यसर्वदाढाइयो भवति अवयवास्तवरधात नाम।’

जिस कर्म के उदय से दूसरे के धात करने वाले अवयव होते हैं, उसे परधात नामकर्म कहते हैं। जैसे शेर, खीते आदि की विकराल दाढ़ी होता, पंजे के तीक्ष्ण रस्त होता। सांप की दाढ़ और बिचू की पूँछ में विष होता, इत्थादि तथा परधात के स्थान पर परधात शब्द का प्रयोग किया है।

**प्रश्न**—जबकि सभी लक्षितयां क्षयोपशमिकभाव अर्थात् वीयन्ति-रायकर्म के क्षयोपशम से उत्थन होती है, तब श्वासोच्छ्वासलक्षित में पुनः श्वासोच्छ्वासनामकर्म का उदय मानने का क्या प्रयोजन है ?

**उत्तर**—किसी ही लक्षितयों में कि जिनमें लोक में विद्यमान पुद्गलों को ग्रहण करना हो और ग्रहण करके श्वासोच्छ्वासादि रूप में परिणामित करना हो, वहाँ कर्म का उदय भी मानना आवश्यक है। क्योंकि कर्म के उदय के बिना लोक में विद्यमान पुद्गलों को ग्रहण करके परिणामाया नहीं जा सकता है। जैसे कि किसी चतुर्दश पूर्वधर संयमी थमण को आहारकलक्षित प्राप्त हो और जब उसको आहारक-शरीर करना हो तब लोक में व्याप्त आहारकवर्गणाओं में से पुद्गलों को ग्रहण करके आहारक रूप से परिणामित किया जाता है। यह ग्रहण और परिणामन कर्म के उदय बिना नहीं होता है। यद्यपि वहाँ लदनुकूल वीयन्तिरायकर्म का क्षयोपशम तो होना ही आहिये, यदि वह न हो तो लक्षितप्रयोग किया ही नहीं जा सकता है। जैसे कि वैक्रिय-शरीरनामकर्म की सत्ता प्रायः प्रत्येक पञ्चनिद्रिय संजी तिर्यच, मनुष्य को होती है, लेकिन सभी मनुष्य, तिर्यच वैक्रियशरीर नहीं बना सकते हैं, जिसको अनुकूल क्षयोपशम हो वही कार सकता है। उसी प्रकार यहाँ भी श्वासोच्छ्वास पुद्गलों का ग्रहण एवं परिणामन किया जाता है। इसी प्रयोजन से श्वासोच्छ्वास नामकर्म मानने की आवश्यकता है।

**आत्मप**—जिस कर्म के उदय से जीवों के शरीर मूलरूप से अनुष्टुप् (उष्णतारहित-शीतल) हो, किन्तु उष्ण प्रकाश रूप ताप करते हैं, उसे आत्मप नामकर्म कहते हैं। इसका उदय सूर्यमण्डलगत पृथ्वीकायिक जीवों में ही होता है, अग्नि में नहीं। क्योंकि सिद्धान्त में अग्नि के आत्मप नामकर्म के उदय का निषेध किया है। किन्तु अग्नि में उष्णता उष्णस्पर्शनामकर्म के उदय से और उल्कट लोहितवर्ण नामकर्म के उदय से प्रकाशकत्व बताया है। आत्मपोदय से तो स्वयं अनुष्टुप् होकर दूरस्थ वस्तु पर उष्ण प्रकाश होता है। जबकि अग्नि स्वयं उष्ण है और माझ थोड़ी दूर रही हुई वस्तु पर उष्ण प्रकाश करती है।

**उद्योत—**जिस कर्म के उदय से जीवों के शरीर शीतल प्रकाश रूप उद्योत करते हैं, उसे उद्योत नामकर्म कहते हैं। इसका उदय सातु और देवों के उत्तरवैक्रियशरीर में, चन्द्र, यह, नक्षत्र और ताराओं के विमानों में, रत्नों और औषधिविशेषों में होता है।

**निर्माण—**जिस कर्म के उदय से जीवों के शरीरों में अपनी-अपनी आति के अनुसार अंग-प्रत्यंग की नियत स्थानवित्तिता (जिस स्थान पर जो अंग-प्रत्यंग होना चाहिए, तदनुरूप उसकी व्यवस्था) होती है, उसे निर्माण नामकर्म कहते हैं। यह कर्म सूक्ष्मधार के समान है। इस कर्म का अभाव मानने पर भृत्य-नीकर के सृष्टि अंगोपांगनामादि के द्वारा शिर, उदर, वक्षस्थल आदि की रचना होने पर भी नियत स्थान पर उनकी रचना होने का नियम नहीं बन सकता है।<sup>१</sup>

**तीर्थकरनाम—**जिस कर्म के उदय से अष्ट महाप्रातिहार्य आदि चौतीस अतिशय प्रगट होते हैं, वह तीर्थकर नामकर्म है।

इस प्रकार से गाथा में बताई गई नामकर्म की आठ अप्रतिपक्षा प्रत्येक प्रकृतियों के लक्षण जानना चाहिए और चौदह पिंड प्रकृतियों का स्वरूप पूर्व गाथा में बतलाया जा चुका है। अब शेष रही सप्रतिपक्षा प्रत्येक प्रकृतियों का कथन करते हैं—

तसदायरपञ्जते पत्तोय थिरं सुभं च नायवं ।

सुस्सरसुभगाइज्जं जसकिती सेयरा वीसं ॥८॥

**शब्दार्थ—**तसदायरपञ्जते—श्रम, बादर, पर्याप्त, । पत्तोय—प्रत्येक, थिरं—स्थिर, सुभं—शुभ, च—और, नायवं—जाइना चाहिये, सुस्सर—

<sup>१</sup> दिग्घवर कर्मसाहित्य में स्थाननिर्माण और प्रमाणनिर्माण ग्रंथे निर्माण के दो भेद करके इनका आर्य अंगोपांग को पथास्थान व्यवस्थित करने के उद्दरोत उनको प्रमाणोत्तम बनाना मी साना है।

यश्चिमित्तात्परिमित्तिस्तन्त्रिन्मित्तिनाम । तद्विविषम्—स्थाननिर्माण, प्रमाणनिर्माण चेति । सत्र जातिनामोदयापेक्षा चक्षुरादीनां स्थानं प्रमाणं च तिवर्तयति, निर्माणतेजेनेति वा निर्माणम् । —दि. कर्मकृति पृ. ४७

सुखर, सुभगाइजन—सुभग, आदेय, जासकिल्ली—यशःकीति, सेतरा—सप्रतिपक्षा, बीस—बीस ।

**गाथार्थ**—ऋस, वादर, पथपित, प्रथेक, स्थिर, शुभ, सुखर, सुभग, आदेय और यशःकीति इनके दसर—प्रतिपक्ष सहित बीस भेद जानना चाहिए ।

**विशेषार्थ**—गाथा में नामकर्म की सप्रतिपक्षा बीस प्रकृतियों के नाम बताने के लिए ऋस आदि दस नाम बतलाकर इनके प्रतिपक्षी नामों का संकेत करने के लिये 'सेतरा'—सेतरा (स+इतरा) शब्द दिया है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

नामकर्म बीं पे सप्रतिपक्षा बीस प्रकृतियाँ ऋसदशक और स्थावर-दशक के भेद से दो प्रकार की हैं । ऋस से लेकर यशःकीति तक के नामों की संख्या दस होने से इनको ऋसदशक और स्थावर से लेकर अयशः-कीति पर्यन्त दस नाम होने से उनको स्थावरदशक कहते हैं । इन दोनों दशकों की दस-दस प्रकृतियों के नामों को मिलाने से कुल बीस भेद हो जाते हैं ।

ऋसदशक की दस प्रकृतियों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) ऋसनाम, (२) वादरनाम, (३) पथपितनाम, (४) प्रथेकनाम, (५) स्थिरनाम, (६) शुभनाम, (७) सुभगनाम, (८) सुखरनाम, (९) आदेय-नाम और (१०) यशःकीतिनाम ।

स्थावरदशक की दस प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—(१) स्थावर-नाम, (२) सूक्ष्मनाम, (३) अपथपितनाम, (४) साधारणनाम, (५) अस्थिरनाम, (६) अशुभनाम, (७) दुर्भगनाम, (८) दुखरनाम, (९) अआदेयनाम और (१०) अयशःकीतिनाम ।

इन बीस प्रकृतियों में से ऋसदशक की प्रकृतियों की गणना पुण्य-प्रकृतियों में और स्थावरदशक की प्रकृतियों की गणना पापप्रकृतियों में की जाती है ।

**प्रतिपक्षसहित अर्थात् त्रस-स्थावर इत्यादि के क्रम से इन बीस प्रकृतियों के लक्षण इस प्रकार हैं—**

**त्रस-स्थावर**—ताप आदि से पीड़ित होने पर जिस स्थान में हैं, उस स्थान पर उद्वेग को प्राप्त करते हैं और छाया आदि का सेवन करने के लिये अन्य स्थान पर जाते हैं, ऐसे द्वीन्द्रिय, श्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय और पञ्चन्द्रिय जीव त्रस कहलाते हैं और इस प्रकार के विपाक का वेदन करने वाली कर्मप्रकृति भी त्रस नामकर्म कहलाती है।

**त्रसनाम से विपरीत स्थावर नामकर्म है**। अतः जिसके उदय से उष्णता आदि से संतप्त होने पर भी उस स्थान का त्याग करने में जो असमर्थ है ऐसे पृथ्वी, अप्, तेज, कानु और बनस्पति काय के गीय स्थावर कहलाते हैं और उसका हेतुभूत जो कर्म है उसे स्थावरनामकर्म कहते हैं।

**बादर-सूक्ष्म**—जिस कर्म के उदय से जीव बादर होते हैं, उसे बादर नामकर्म कहते हैं। यह बादरत्व एक प्रकार का परिणामविधेय है कि जिसके कारण पृथ्वीकायादि एक-एक जीव का शरीर चक्षु द्वारा ग्रहण नहीं होने पर भी अनेक जीवों के शरीरों का जब समूह हो जाता है तब उसका चक्षु द्वारा ग्रहण होता है और उसका हेतुभूत जो कर्म है उसे बादरनामकर्म कहते हैं।

**बादरनामकर्म से विपरीत सूक्ष्मनामकर्म है**। अतः जिस कर्म के उदय से जीवों का सूक्ष्म परिणाम होता है कि जिसके कारण चाहे कितने शरीरों का पिण्ड एकत्रित हो जाये तो भी देखे न जा सकें, वह सूक्ष्म-नामकर्म है।

**बादर और सूक्ष्म नामकर्मों के उक्त लक्षणों का सारांश यह है कि** जिसे आंख देख सके और आंख देख न सके यह क्रमशः बादर और सूक्ष्म का अर्थ नहीं है। क्योंकि यद्यपि एक-एक बादर पृथ्वीकाय आदि का शरीर आंखों से नहीं देखा जा सकता है। किन्तु बादरनामकर्म

पृथ्वीकाय आदि जीवों में एक प्रकार के बादर परिणाम को उत्पन्न करता है, जिससे उनके शरीर समुदाय में एक प्रकार की अभिव्यक्ति हो जाती है और वे शरीर हृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु जिन्हें इस कर्म का उदय नहीं होता है, ऐसे सूक्ष्म जीव समुदायरूप में भी एकश्रित हो जायें तो भी हृष्टिगोचर नहीं होते हैं।

बादर और सूक्ष्म नामकर्म वे दोनों प्रकृतियाँ जीवविपक्षिनी प्रकृतियाँ हैं। जो शरीर के पुद्दगलों के माध्यम से जीव में बादर और सूक्ष्म परिणाम उत्पन्न करती हैं। इनकी जीवविपक्षिनी प्रकृति होने पर भी शरीर के पुद्दगलों के माध्यम से अभिव्यक्ति होने का कारण यह है कि जैसे क्रोध के जीवविपक्षिनी प्रकृति होने पर भी उसका उद्देश—भीह का टेढ़ा होना, ओखों का लाल होना, ओठों की कड़फड़ाहट इत्यादि परिणाम—बाह्य लक्षणों द्वारा प्रगट रूप में दिखालाई देता है, उसी प्रकार इनका भी शरीर में प्रभाव दिखाना विसर्ज्ज्ञ नहीं है। सारांश यह है कि कर्मशक्ति विच्छिन्न है। इसलिये बादरनामकर्म तो पृथ्वीकाय आदि जीवों में एक प्रकार के बादर परिणाम को उत्पन्न कर देता है, जिससे उनके शरीरसमुदाय में एक प्रकार की अभिव्यक्ति प्रगट हो जाती है और वे शरीर हृष्टिगोचर होने लगते हैं। लेकिन सूक्ष्म नामकर्मोदय वाले जीवों में वैसी अभिव्यक्ति प्रगट नहीं हो पाती है।

**पर्याप्ति-अपर्याप्ति**—जिस कर्म के उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करने में समर्थ होता है, वह पर्याप्तनामकर्म है। इससे विपरीत अपर्याप्तनामकर्म है कि जिसके उदय से जीव अपने योग्य पर्याप्तियों के निर्माण करने में समर्थ नहीं होता है।

पर्याप्त जीवों के दो भेद हैं—(१) लक्षित-पर्याप्ति और (२) करण-पर्याप्ति। इसी प्रकार अपर्याप्त जीवों के भी दो भेद हैं—(१) लक्षित-अपर्याप्ति और (२) करण-अपर्याप्ति।

जो जीव अपनी-अपनी योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करके मरते हैं, फहले नहीं वे लक्षित-पर्याप्ति हैं और करण-पर्याप्ति के दो अर्थ हैं। करण का अर्थ है इन्द्रिय अतः जिन जीवों ने इन्द्रिय-पर्याप्ति पूर्ण कर ली है, वे करण-पर्याप्ति हैं। अथवा जिन जीवों ने अपनी योग्य पर्याप्तियां पूर्ण कर ली हैं, वे करण-पर्याप्ति कहलाते हैं।

इनसे विषरीत लक्षण वाले जीव ज्ञामशः लक्षित-अपर्याप्ति और करण-अपर्याप्ति कहलाते हैं। अर्थात् जो जीव अपनी पर्याप्तियां पूर्ण किये बिना ही मरते हैं, वे लक्षित-अपर्याप्ति हैं और जो जीव असी अपर्याप्ति हैं किन्तु आगे की पर्याप्तियां पूर्ण करने वाले हैं, उन्हें करण-अपर्याप्ति कहते हैं।

**प्रत्येक-साधारण**—जिस कर्म के उदय से प्रत्येक जीव को पृथक्-पृथक् शरीर प्राप्त होता है, वह प्रत्येक नामकर्म है। इस कर्म का उदय प्रत्येक शरीरी जीव को होता है। नारक, देव, मनुष्य, द्वीन्द्रिय, औन्द्रिय, चतुरन्द्रिय, असंज्ञी-संज्ञी पञ्चन्द्रिय, पृथ्वी, तेज, वायु और कपित्थ, आदि आदि प्रत्येक वनस्पति, ये सभी प्रत्येक शरीरी जीव हैं। इन सभी को प्रत्येक नामकर्म का उदय होता है और जिस कर्म के उदय से बनते जीवों का एक शरीर होता है, वह साधारण नामकर्म है।

उक्त प्रत्येक और साधारण नामकर्म के लक्षण पर जिज्ञासु प्रश्न पूछता है—

**प्रश्न**—यदि कपित्थ (कंथ, कबीट), अश्वत्थ (वट), पीलु (पिलखन) आदि वृक्षों में प्रत्येक नामकर्म का उदय माना जाये तो उनमें एक-एक जीव का भिन्न-भिन्न शरीर होना चाहिये। परन्तु वह तो होता नहीं है। क्योंकि कबीट, आम, पीपल और सेलू आदि वृक्षों के मूल, स्कन्ध, छाल, शाखा आदि प्रत्येक अवयव असंख्य जीव वाले माने गये हैं। प्रश्नापनासूत्र में एकास्थिक—एक बीज वाले और बहुबीज वाले वृक्षों की प्रसंग में कहा गया है—

‘एयसि मूला असंख्यजजीविया कन्दा वि खंदा वि तया वि साला वि पवाला वि, पता पत्ते य जीविया।’

इन-इन जीवों के मूल, कन्द, स्कन्ध, छाल, शाखा, प्रशाखा और अकाल आदि असंख्य जीव वाले हैं और पूरे एक-एक जीव वाले हैं इत्यादि । परन्तु मूल से लेकर फल तक सभी अवयव देवदत्त के शरीर की तरह एक फरुरावार रूप में दिखलाई देते हैं । अथवा जैसे देवदत्त नामक किसी व्यक्ति का शरीर अखण्ड एक स्वरूप वाला जात होता है, उसी प्रकार मूल आदि सभी अवयव भी अखण्ड एक स्वरूप से जात होते हैं । इसलिए कपित्थ आदि वृक्ष अखण्ड एक शरीर वाले हैं और असंख्य जीव वाले हैं । यानी उन कपित्थ आदि का शरीर तो एक है किन्तु उनमें असंख्य जीव हैं । इस कारण उनको प्रत्येक शरीरी कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि एक शरीर में एक जीव नहीं किन्तु एक शरीर में असंख्यात जीव हैं ।

**उत्तर—**यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उन मूल आदि में भी असंख्यात जीवों के भिन्न-भिन्न शरीर माने गये हैं ।

**प्रश्न—**शास्त्र के कथानुसार जब वे मूलादि सभी भिन्न-भिन्न शरीर वाले हैं तब वे एकाकार रूप में कैसे दिखलाई देते हैं ?

**उत्तर—**केवल इत्येष्ट्रद्रव्य से मिथित एकाकार रूप में हुए बहुत से सरसों की बत्तों के सामन प्रबल रागद्वेष से संचित विचित्र प्रत्येकनामकर्म के पुद्यगलों के उदय से उन सभी जीवों का शरीर भिन्न-भिन्न होने पर भी परस्पर विभिन्न-एकाकार शरीर वाला होता है । अथवा बहुत से तिलों में उनको मिथित करने वाले गुड़ आदि ढालकर तिलपपड़ी बनाई जाये तो जैसे वे एकाकार हुए प्रत्येक तिल भिन्न-भिन्न होने पर भी एक पिण्डरूप में दिखते हैं । उसी प्रकार विचित्र प्रत्येकनामकर्म के उदय से मूल आदि प्रत्येक भिन्न-भिन्न शरीर वाले होने पर भी एकाकार रूप में दिखलाई देते हैं । इस कथन का तात्पर्य यह है कि उस वित्तिका के सरसों परस्पर भिन्न हैं, एकाकार नहीं है, क्योंकि वे सभी पृथक्-पृथक् रूप में दिखते हैं । इसी प्रकार वृक्षादि में भी मूल आदि प्रत्येक अवयव में असंख्यात जीव होते हैं, लेकिन वे सभी परस्पर भिन्न-

भिन्न शरीर वाले हैं तथा जैसे वे सरसों संयोजक द्रव्य के सम्बन्ध की क्षितिजता से परस्पर मिथित हुए हैं, उसी प्रकार मूल आदि में रहे हुए प्रत्येकशरीरी जीव भी तथाप्रकार के प्रत्येकनामकर्म के उदय से परस्पर संहत—एकाकार रूप में परिणत हुए हैं।<sup>१</sup>

**प्रश्न**—अनन्त जीवों का एक शरीर कैसे सम्भव हो सकता है ? क्योंकि जो जीव पहले उत्पन्न हुआ, उसने उस शरीर की बनाया और उसके साथ परस्पर सम्बद्ध होने के द्वारा सर्वात्मना अपना बनाया । इसलिए उस शरीर में पहले उत्पन्न हुए जीव का अधिकार होना चाहिये, अन्य जीवों का अधिकार कैसे हो सकता है ? देवदत्त के शरीर में जैसे देवदत्त का जीव ही पूर्णतया सम्पूर्ण शरीर के साथ सम्बन्ध रखता है, उसी प्रकार दूसरे जीव उस सम्पूर्ण शरीर के साथ कोई सम्बन्ध रखते हुए उत्पन्न नहीं होते हैं । क्योंकि वैसा दिखलाई नहीं देता है । कदाचित् अन्य जीवों के उत्पन्न होने का अवकाश हो तो भी जिस जीव ने उस शरीर को उत्पन्न करके परस्पर जोड़ने के द्वारा अपना बनाया, वह जीव ही उस शरीर में सुख्य है, इसलिए उसके सम्बन्ध से ही पर्याप्त-अपर्याप्त व्यवस्था, प्राणापानादि के योग्य पुद्गलों का प्रहृण आदि होना चाहिये, किन्तु अन्य जीवों के सम्बन्ध से यह सब नहीं होना चाहिये । साधारण में तो वैसा है नहीं । क्योंकि उसमें प्राणापानादि व्यवस्था जो एक की है, वह अनन्त जीवों की और जो अनन्तों की है, वह एक की होती है तो यह कैसे हो सकता है ?

**उत्तर**—साधारणनामकर्म के अर्थ के आशय को न समझने के कारण उक्त कथन योग्य नहीं है । क्योंकि साधारणनामकर्म के उदय वाले अनन्त जीव तथाप्रकार के कर्मादय के सामर्थ्य से एक साथ ही

१ जह सगलसरितवाणं लिलेसमिसाज वट्टिया बट्टी ।

पत्तेयसरीराणं तह होति सरीरसंवाद्या ॥१॥

जह वा तिलपत्तिया, बहुएहि तिलेहि शीसिया संती ।

पत्तेयसरीराणं तह होति सरीरसंवाद्या ॥२॥

उत्पत्तिस्थान की प्राप्त होते हैं, एक साथ ही उस शरीर का आश्रय लेकर पर्याप्तियां प्रारम्भ करते हैं, एक साथ ही पर्याप्ति होते हैं, एक साथ हीं प्राणायानादि योग्य पुद्गलों को ग्रहण करते हैं, एक का जो आहार वह दूसरे अनन्त जीवों का और जो अनन्त जीवों का आहार वह एक विविधत जीव का आहार होता है। शरीर से सम्बन्धित सभी क्रियायें जो एक जीव की वे अनन्त जीवों की और अनन्त जीवों की ऐ एक जीव की, इस प्रकार समान ही होती हैं। इसलिए यहाँ पर किसी प्रकार की असंगति नहीं समझना चाहिये। साधारण जीवों का यही लक्षण है।<sup>१</sup>

**स्थिर-अस्थिर**—जिस कर्म के उदय से मस्तक, हड्डियां, दाँत आदि शरीर के अवयवों में स्थिरता रहती है, उसे स्थिरतामकर्म कहते हैं और इससे विपरीत अस्थिरतामकर्म है कि जिस कर्म के उदय से जिछ्हा आदि शरीर के अवयवों में अस्थिरता होती है।<sup>२</sup>

१ समयं वक्तव्यं साधनं समयं तेसि सरीरनिपक्षी ।

समयं अणुग्रहणं समयं उस्सास-निस्सासा ॥१॥

एगस्त उ जं ग्रहणं व्यवृण साहारणाणं तं चेव ।

जं व्यवृणं ग्रहणं समाप्तं तं पि एगस्त ॥२॥

साहारणमाहारो साहारणमाणसाणग्रहणं च ।

साहारणजीवाणां साहारणलक्षणं एवं ॥३॥

—प्रशाप्यतासूच

उक्त तीम राधाओं में से तीसरी राधा दिग्म्बर साहित्य में भी समान रूप से प्राप्त होती है। देखो—मो. जीवकांड गाथा १८१, ध्वला भाग १, पृष्ठ २७०, चा. १४५, तथा पंचतंत्रह १।८२।

साधारणमाणकर्म के उक्त लक्षण में यह विशेष घ्यान रखना चाहिये कि यद्यपि साधारण जीवों की शरीर से सम्बन्धित सभी क्रियायें समान होती हैं, किन्तु कर्म का वैध, उदय, आयु का प्रमाण ये सभी साथ में उत्पन्न हुओं का समान ही होता है, ऐसा नहीं है। समान भी हो और हीनाधिक भी हो सकता है।

२ दिग्म्बर कर्मसाहित्य में हिष्ठर और अस्थिर भामकर्म के लक्षण इमान् इस प्रकार हैं—→

**शुभ-अशुभ**—जिस कर्म के उदय से नाभि से ऊपर के अवयव शुभ होते हैं, वह शुभनामकर्म है और उससे विषरीत अशुभनामकर्म आनना चाहिये कि जिस कर्म के उदय से नाभि से नीचे के शरीर अवयव अशुभ होते हैं।<sup>१</sup> जोसे कि मस्तक के स्पर्श किये जाने पर मनुष्य सत्तोष को प्राप्त करता है अर्थात् प्रसन्न होता है, क्योंकि वह शुभ है और यदि पैर से स्पर्श किया जाये तो रुक्ष होता है, क्योंकि पैर अशुभ हैं।

शुभ और अशुभ की उत्तम व्याख्या करने पर जिज्ञासु का प्रश्न है—

**प्रश्न**—आपने नाभि से नीचे के पैर आदि अवयवों को अशुभ बताया है, फिर भी किसी प्रिय स्त्री के पादस्पर्श से काढ़ी पुरुष की परम सत्तोष होता है। अतएव पैर आदि को अशुभ कहने पर उपर्युक्त शुभ, अशुभ के लक्षण में व्यभिचार, दोष होता है।

जिस कर्म के उदय से शरीर के धातु-उपधातु व्याख्यान स्थिर रहें, वह स्थिर नामकर्म है और जिस कर्म के उदय से शरीर के धातु और उपधातु स्थिर न रह सकें, वह अस्थिर नामकर्म है—

यस्योदयाद रसादि धातुपधातूनां स्वस्थाने स्थिरमाव निर्वर्तनं  
मवति तस्थिरनाम । धातुपधातूनां स्थिरमावेनानिर्वर्तनं यतस्तदस्थिर-  
नाम ।

—दि. कर्मप्रकृति पृ. ४७, ४८

१ दिग्म्बर साहित्य में शुभ-अशुभ नामकर्म के लक्षण इस प्रकार बताये हैं—

जिस कर्म के उदय से शरीर के अवयव सुन्दर हों, वह शुभ नामकर्म है और जिस के उदय से शरीर के अवयव सुन्दर न हों, वह अशुभ नामकर्म है—

यदुदयाद्रमणीया मस्तकादि प्रशस्तावयवा भवन्ति तस्यशुभनाम ।  
यदुदयेनारमणीयमस्तकाद्रवयवनिर्वर्तनं भवति तदशुभनाम ।

—दि. कर्मप्रकृति पृ. ४७, ४८

**उत्तर**—उक्त प्रश्न असंगत है। क्योंकि कामी पुरुष को कामिनी के पाद आदि के स्पर्श से जो सन्तोष होता है, उस सन्तोष में मोह कारण है, अथवा वह तो मोहनिमित्तक है, वास्तविक नहीं है। यहाँ तो वस्तु-स्थिति का विचार किया जा रहा है। इसलिए अशुभनामकर्म के उक्त संक्षण में किसी प्रकार का दोष नहीं समझना चाहिये।

**सुस्वर-दुःस्वर**—जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर कर्णप्रिय हो, श्रोताओं को प्रीति का कारण होता है, उसे सुस्वरनामकर्म कहते हैं। उससे विपरीत दुःस्वरनामकर्म है कि जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर कर्णकटु, श्रोताओं को अप्रीति का कारण होता है।

**सुभग-दुर्भग**—जिस कर्म के उदय से उपकार नहीं करने पर भी जीव सबको मनःप्रिय होता है, वह सुभगनामकर्म है और उससे विपरीत दुर्भगनामकर्म जानना चाहिए कि जिस कर्म के उदय से उपकार करने पर भी अन्य जीवों को अप्रिय लगता है, द्वेष का पात्र होता है।

**प्रह्लन**—तीर्थकर भी अभव्यों के द्वेषपात्र होते हैं, तो व्या तीर्थकरों को भी दुर्भगनामकर्म का उदय माना जाये ?

**उत्तर**—नहीं। क्योंकि तीर्थकर भी जो अभव्यों के द्वेषपात्र होते हैं, उसमें दुर्भगनामकर्म का उदय निमित्त नहीं है। किन्तु अभव्यों का हृदयगत मिथ्यात्व ही इसका कारण है।

**आदेय-अनादेय**—जिस कर्म के उदय से मनुष्य जो प्रवृत्ति करे, जिस किसी बचन को छोले, उसको लोक प्रमाण माने और उसके दिल्लने पर अभ्युत्थान आदि आदर-सत्कार करते हैं, वह आदेयनामकर्म है और उसके विपरीत अनादेयनामकर्म जानना चाहिये कि जिस कर्म के उदय से युक्ति-युक्त कथन करने पर भी लोग उसके बचन की मान्य न करें तथा उपकार आदि करने पर भी अभ्युत्थान आदि की प्रवृत्ति न करें।<sup>१</sup>

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य में आदेय और अनादेय नामकर्म के नक्षण इस प्रकार बताये हैं—

**यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति**—तप, शौर्य, त्यागादि के द्वारा उपार्जन किये गये यश से जिसका कीर्तन किया जाये, प्रशंसा की जाये, उसे यशःकीर्ति कहते हैं। अथवा यश अथवा स्वभान्य से व्याप्ति और कीर्ति यानी गुणों के वर्णन रूप प्रशंसा, अथवा सर्व दिशा में फैलने वाली, पराक्रम से उत्पन्न हुई और सभी मनुष्यों द्वारा प्रशंसनीय जो कीर्ति, वह यश है और एक दिशा में फैलने वाली दान, पूर्ण आदि से उत्पन्न हुई जो प्रशंसा वह कीर्ति है। वह यश और कीर्ति जिस कर्म के उदय से उत्पन्न हो उसे यशःकीर्तिनामकर्म कहते हैं। उससे विपरीत अयशःकीर्तिनामकर्म है कि जिस कर्म के उदय से मध्यस्थ मनुष्यों के द्वारा भी अप्रशंसनीय हो।

इस प्रकार सप्रतिष्ठ प्रत्येक दीस प्रकृतियों का स्वखण्ड जानना चाहिए; वही पर दिल क्रग से लाइसफ उसादि प्रकृतियों का कथन किया गया है, वह इन प्रकृतियों की सज्ञा आदि की द्विविधता को बतलाता है कि उसादि दस प्रकृतियाँ उसदबाक कहलाती हैं और स्थावर आदि दस प्रकृतियों की स्थावरदबाक कहते हैं। अन्यत्र भी जहाँ कहीं भी उसादि का ग्रहण किया जाये वहाँ वही उसादि दस प्रकृतियों समझना चाहिये और स्थावरादि दस का ग्रहण किया जाये तो वहाँ उसादि की प्रतिष्ठ स्थावरादि दस प्रकृतियाँ जानना चाहिए तथा उसादि दस और स्थावरादि दस प्रकृतियाँ दोनों यथाक्रम से परस्पर विरोधी हैं। जैसे कि उस के विरुद्ध स्थावर, बादर के विरुद्ध सूक्ष्म इत्यादि तथा उसचतुष्क, स्थावरचतुष्क, स्थिरषट्क, अस्थिरषट्क आदि संज्ञाओं में ग्रहण की गई प्रकृतियाँ उस प्रकृति से लेकर आये की प्रकृतियों की उस संख्या की पूर्ति तक लेना चाहिए।

जिसके उदय से शरीर प्रभावुक ही वह आदेयनामकर्म है और जिसके उदय से शरीर में प्रभाव न हो, उसे अनादेयनामकर्म कहते हैं—  
प्रश्नोपेतशरीरकारणमादेयनाम । निष्प्रश्नशरीरकारणमनादेयनाम ।

—दि. कर्मप्रकृति पृ. ४७,४८

इस प्रकार पिंडप्रकृति चौदहु, अप्रतिपक्ष प्रत्येकप्रकृति आठ और सप्रतिपक्ष प्रत्येकप्रकृति बीस के क्रम से नामकर्म की वयालीस उत्तरप्रकृतियों का स्वरूप जानना चाहिए। अब पूर्वोक्त भूति आदि चौदहु पिंडप्रकृतियों में से उनके जितने जितने अवान्तर भेद होते हैं और उनका कुल योग कितना है, इसका प्रतिपादन करते हैं।

**पिंडप्रकृतियों के अवान्तर भेदों की संख्या**

गईयाईयाण भेद्या चतुर पण पण ति पण पंच छ छष्टकं ।

पण दुग पणद्व चतुर दुग पिंडतरभेद पणसद्धी ॥६॥

**शब्दार्थ—** गईयाईयाण—गति आदि के, भेदा—भेद, चतुर—चार, पण—पाँच, पण—पाँच, ति—तीन, पण—पाँच, पंच—पाँच, छ—छह, छष्टकं—छह, पण—पाँच, दुग—दो, पणद्व—पाँच और आठ, चतुर—चार, दुग—दो, पिंडतरभेद—पिंडप्रकृतियों के उत्तर भेद, पणसद्धी—पैसठ।

**गतिवार्थ—** गति आदि चौदहु पिंडप्रकृतियों के उत्तरभेद अनुक्रम से चार, पाँच, पाँच, तीन, पाँच, पाँच, छह, छह, पाँच, दो, पाँच, आठ, चार और दो हैं। इन सबका योग पैसठ होता है।

**विशेषार्थ—** चौदहु पिंडप्रकृतियों के नाम गति आदि के क्रम से पूर्व में कहे जा सके हैं। यहाँ उन्हों के यथाक्रम चार से प्रारम्भ कर दो तक उत्तर भेदों की संख्या का निर्देश किया है। जो इस प्रकार है—

गतिनाम के चार भेद, जातिनाम के पाँच भेद, शरीरनाम के पाँच भेद, अंगोपांगनाम के तीन भेद, बंधननाम के पाँच भेद, संधातननाम के पाँच भेद, संहनननाम के छह भेद, संस्थाननाम के छह भेद, वर्णनाम के पाँच भेद, यंधनाम के दो भेद, रसनाम के पाँच भेद, स्पर्शनाम के आठ भेद, आनुपूर्वनाम के चार भेद और विहायोगतिनाम के दो भेद होते हैं।

इन गति आदि पिण्डप्रकृतियों में से बंधन और संधातन नामकर्म के भेदों के नामों को छोड़कर शेष सभी के उत्तरभेदों के नाम पहले गति आदि के स्वरूप कथन के प्रसंग में यथाक्रम से विस्तारपूर्वक कहे जा सकते हैं।

इस चौदह पिण्डप्रकृतियों के सभी उत्तरभेद मिलकर पैसठ होते हैं और प्रत्येकप्रकृतियां कुल मिलाकर अट्ठाईस हैं। इन पैसठ और अट्ठाईस को जोड़ने पर नामकर्म की कुल उत्तरप्रकृतियां तेरानवै जानना चाहिये। लेकिन जो आचार्य बन्धनसंधातननामकर्म के पांच भेदों की बजाय पन्द्रह भेद मानते हैं, उनके मत से नामकर्म की कुल प्रकृतियां एक सौ तीन समझना चाहिए।

इस प्रकार आनावश्यादि आठों कमों की कुल मिलाकर एक सौ अड़तालीस अथवा नामकर्म की तेरानवै के बजाय एक सौ तीन प्रकृति मानने पर एक सौ अट्टावन प्रकृतियां होती हैं। लेकिन कर्मप्रस्तुत्या के प्रसंग में बंध, उदय और सत्ता की अपेक्षा क्रमशः एक सौ बीस, एक सौ बाईस और एक सौ अड़तालीस अथवा एक सौ अट्ठावन प्रकृतियां मानी जाती हैं। अतः इसमें जो विवक्षा व कारण है, उसको बताते हैं—

सप्तरीरन्तरभूया बन्धनसंधायणा उ बंधुदण् ।

वर्णाइविग्रायावि हु बंधे नो सम्ममीसाई ॥१०॥

**शब्दार्थ—**सप्तरीरन्तरभूया—सप्तरीर के अन्तर्भूत, बंधन—बंधन, संधायणा—संधातन, उ—और, बंधुदण्—बंध और उदय में, वर्णाइविग्रायावि—वर्णादि के उत्तर भेद भी, हु—निहित हुई, कंधे—बंध में, नो—नहीं, सम्ममीसाई—सम्मक्ष और भिन्न।

**गाथार्थ—**बंध और उदय में बंधन और संधातन की अपने-अपने शरीरनामकर्म के अन्तर्गत विवक्षा की जाती है तथा वर्णादि के उत्तर

भेद और उदय में विवक्षित नहीं किये जाते हैं तथा सम्बन्धमोहनीय एवं मिथमोहनीय का बोध होता ही नहीं है। इसी कारण बोध, उदय और सत्ता की अपेक्षा प्रकृतियों की संख्या में अन्तर समझना चाहिये।

**बिशेषार्थ—** गाथा में विवक्षाभेद के सामान्य सूत्र का संकेत किया है कि बोध और उदय का जब विचार किया जाता है, तब यह समझना चाहिये कि बोधनामकर्म के पांच भेदों की और संघातनामकर्म के पांच भेदों की अपने-अपने शारीर के अन्तर्गत विवक्षा की गई है। इसका कारण यह है कि यद्यपि पांचों बोधन और पांचों संघातन नामकर्मों का बोध होता है और उदय भी होता है, लेकिन जिस शारीरनामकर्म का बोध या उदय होता है, उसके साथ ही उस शारीरयोग्य बोधन और संघातन का अवश्य बोध और उदय होता है। जिससे बोध और उदय में उन दोनों की विवक्षा नहीं की जाती है किन्तु सत्ता में उन्हें पृथक्-पृथक् बतलाया है और वैसा बताना युक्तिसंगत भी है। जिसका कारण यह है—

यदि सत्ता में उनको पृथक्-पृथक् न बताया जाये तो मूल बस्तु के अस्तित्व का ही लोप हो जायेगा और उसके फलस्वरूप यह मानना चाहिएगा कि बोधन और संघातन नाम का कोई कर्म नहीं है। परन्तु यह मानना अभीष्ट नहीं है। इसीलिए सत्ता में उनको अलग-अलग बतलाया गया है।

अब यह बतलाते हैं किस-किस बोधन और संघातन की किस-किस शारीर के अन्तर्गत विवक्षा की गई है—

आदारिक बोधन और संघातन नामकर्म की आदारिकशारीरनामकर्म के अन्तर्गत, वैक्रिय बोधन और संघातन नामकर्म की वैक्रियशारीरनामकर्म के अन्तर्गत, आहारक बोधन और संघातन नामकर्म की आहारकशारीर नामकर्म के अन्तर्गत, तैजस बोधन और संघातन नामकर्म

की तैजसशरीरनामकर्म के अन्तर्गत और कार्यण बंधन और संघातन नामकर्म की कार्यणशरीरनामकर्म के अन्तर्गत विवेषा की जाती है।

इसी प्रकार वर्ण, गंध, रस और स्पर्श नामकर्म के अवान्तर पांच, दो, पांच और आठ उत्तर भेदों की वंध और उदय में विवेषा नहीं करके सामान्य से चार ही जिने जाती हैं। क्योंकि इन द्विरा प्रशुद्धियों का साथ ही वंध और उदय होता, एक भी प्रकृति पूर्व या पश्चात् वंध या उदय में से कम नहीं होती है। जिससे इस प्रकार की विवेषा की है तथा दर्शनमोहनीय की दो उत्तर प्रकृतियाँ—सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय को वंध में ग्रहण नहीं करते हैं। क्योंकि उनका वंध ही नहीं होता है। जिसका कारण यह है कि जैसे आँख आदि औषधि-विशेष के द्वारा मदन कोद्रव (कोदो—एक प्रकार का धान्य, जिसके खाने से नशा होता है) शुद्ध करते हैं, उसी प्रकार आत्मा भी मदन को द्रव जैसे मिथ्यात्व मोहनीयकर्म के दलिकों की औषधि के सामन सम्यक्त्व के अनुरूप विशुद्धि विशेष के द्वारा शुद्ध करके तीन भागों में बांट देती है—शुद्ध, अर्धविशुद्ध और अशुद्ध। उनमें से सम्यक्त्व रूप को प्राप्त हुए अर्थात् जो सम्यक्त्व की प्राप्ति में विघ्नातक नहीं ऐसे शुद्ध पुद्गल सम्यक्त्वमोहनीय कहलाते हैं लग्या अल्पशुद्धि को प्राप्त हुए अर्धविशुद्ध पुद्गलों को मिश्रमोहनीय कहा जाता है और जो किञ्चिन्मात्र भी शुद्धि को प्राप्त नहीं हुए, परन्तु मिथ्यात्वमोहनीय रूप में ही रहे हुए हैं, वे अशुद्ध कहलाते हैं। इस प्रकार सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय सम्यक्त्व मुण द्वारा सत्ता में रहे हुए मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के शुद्ध हुए पुद्गल होने से उनका वंध नहीं होता है, किन्तु मिथ्यात्व का ही वंध होता है। जिससे वंधविचार के प्रसंग में सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय के सिवाय मोहनीयकर्म की छब्बीस और पांच वंधन, पञ्च संघातन एवं वर्णादि सोलह के बिना नामकर्म की सङ्गसङ्ग प्रकृतियाँ ग्रहण की जाती हैं। विष कर्मों की प्रकृतियों में कोई अल्पाधिकता नहीं है। जिससे सभी प्रकृतियों को जोड़ने पर वंध में एक सौ बीस प्रकृतियाँ वंधवोग्य मानी जाती हैं।

उदयविचार के प्रसंग में सम्प्रस्तुति होनी व और मिथ्याहृतीय का भी उदय होने से उनकी दृढ़ि करने पर एक सौ बाईस प्रकृतियां उदय-योग्य मानी जाती हैं।

सत्ता में जिनकी बंध और उदय में विवक्षा नहीं की गई है ऐसी बंधन की पांच, संधातन की पांच और वर्णादिवत्तुष्टुक के स्थान पर उनकी सभी बीस प्रकृतियों का ग्रहण होने से कुल एक सौ अड़तालीस उत्तरप्रकृतियां सत्तायोग्य मानी जाती हैं।<sup>१</sup>

इस प्रकार से बंध, उदय और सत्ता योग्य प्रकृतियों का विवेचन करने के पश्चात् अब यह स्पष्ट करते हैं कि बंधमनामकर्म के पांच के बजाय पन्द्रह भेद किस प्रकार होते हैं और पन्द्रह भेद मानने में अन्य आचार्यों का क्या हाफिकोण है।

**बंधमनामकर्म के पन्द्रह भेद**

वेउव्वाहारोरालियाण सग तेयकम्मजुत्ताणं ।

नव बंधणाणि इयरदुजुत्ताणं तिष्ठि तेसि च ॥११॥

**शास्त्रार्थ—**वेउव्वाहारोरालियाण—व्रिक्षि, आहारक और औदारिक का सग—स्व के साथ (अपने नाम बाजे के साथ), तेयकम्मजुत्ताण—तेजस और कार्यज के साथ जोड़ने पर, नव—नवी, बंधणाणि—बंधन, इयरदुजुत्ताण—परस्पर दोनों के जोड़ने पर, तिष्ठि—लीन, तेसि—उनके, च—और।

१ श्रीमद् गर्भिं और शिक्षार्थसूरि आदि के मतानुसार सत्तायोग्य एक सौ अट्ठावन प्रकृतियों मानने पर बंधन के पश्चात् भेदों की विवक्षा करना चाहिए। तथा एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों में जो बंधन के पांच भेदों का ग्रहण किया है, उनमें बंधन के शेष दस भेदों को मिलाने से कुल एक सौ अट्ठावन उत्तरप्रकृतियां हो जाती हैं।

दिग्म्बर कर्मसाहित्य में सत्तायोग्य प्रकृतियों एक सौ अड़तालीस मानी हैं।

**गाथार्थ—**अपमे-अपने नाम के साथ, तैजस के साथ और कार्मण के साथ जोड़ने पर वैक्रिय, आहारक और औदारिक के तीन बंधन होते हैं। युगपत् तैजस और कार्मण के जोड़ने पर तीन बंधन और इन दोनों शरीर के तीन बंधन होते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर बंधननामकर्म के पन्द्रह भेद हैं।

**विशेषार्थ—**गाथा में बंधननामकर्म के पन्द्रह भेद बनाने की प्रक्रिया का निर्देश किया है—

अपने-अपने शरीरनाम के साथ, तैजस के साथ और कार्मण के साथ वैक्रिय, आहारक और औदारिक को जोड़ने पर बंधन के तीन भेद बनते हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

वैक्रिय-वैक्रियबंधन, वैक्रिय-तैजसबंधन, वैक्रिय-कार्मणबंधन, आहारक-आहारकबंधन, आहारक-तैजसबंधन, आहारक-कार्मणबंधन, औदारिक-औदारिकबंधन, औदारिक-तैजसबंधन, औदारिक-कार्मण-बंधन।

तैजस-कार्मण को युगपत् वैक्रिय आदि तीन शरीरों के साथ जोड़ने पर बंधन के तीन भेद इस प्रकार होते हैं—

वैक्रिय-तैजसकार्मणबंधन, आहारक-तैजसकार्मणबंधन, औदारिक-तैजसकार्मणबंधन।

तैजस कार्मण का परस्पर सम्बन्ध करने पर बंधन के तीन भेद इस प्रकार हैं—

तैजस-तैजसबंधन, तैजस-कार्मणबंधन और कार्मण-कार्मण-बंधन।

इस प्रकार भी, तीन, तीन को जोड़ने पर कुल मिलाकर बंधन के पन्द्रह भेद होते हैं। जिनके लक्षण इन्हें हस प्रकार हैं—

१. पूर्वग्रहीत वैक्रिय-शरीर पूर्वगलों के साथ शुद्धमाण वैक्रिय-पूर्वगलों का परस्पर जो सम्बन्ध होता है, वह वैक्रिय-वैक्रियबंधन है और

इस शक्ति का सम्बन्ध होने से हेतुभूत जो कर्म उसको वैक्रिय-वैक्रिय-बंधननामकर्म कहते हैं। इसी प्रत्येक बंधननामकर्म के लिए समझ लेना चाहिए।

२. पूर्वश्रहीत और गृह्णमाण वैक्रिय पुद्गलों का पूर्वश्रहीत और गृह्णमाण तैजस पुद्गलों के साथ जो बंधन होता है उसे वैक्रिय-तैजस-बंधन कहते हैं।

३. पूर्वश्रहीत और गृह्णमाण वैक्रिय पुद्गलों का पूर्वश्रहीत और गृह्णमाण कार्मण पुद्गलों के साथ जो सम्बन्ध होता है वह वैक्रिय-कार्मणबंधन कहलाता है।

४. पहले ग्रहण किये हुए आहारक पुद्गलों का और ग्रहण किये जा रहे आहारक पुद्गलों का जो सम्बन्ध होता है उसको आहारक-आहारकबंधन कहते हैं।

५. पूर्व में ग्रहण किये हुए और ग्रहण किये जा रहे आहारक पुद्गलों के साथ पूर्वश्रहीत और गृह्णमाण तैजसपुद्गलों का सम्बन्ध होता है वह आहारक-तैजसबंधन कहलाता है।

६. पूर्वश्रहीत और गृह्णमाण आहारक पुद्गलों का पूर्व में ग्रहण किये हुए और ग्रहण किये जा रहे कार्मणपुद्गलों के साथ जो सम्बन्ध होता है, उसे आहारक-कार्मणबंधन कहते हैं।

७. पूर्वश्रहीत औदारिक पुद्गलों का ग्रहण किये जा रहे औदारिक पुद्गलों के साथ जो सम्बन्ध होता है, वह औदारिक-औदारिक-बंधन है।

८. पूर्वश्रहीत और गृह्णमाण औदारिक पुद्गलों का पूर्व में ग्रहण किये हुए और ग्रहण किये जा रहे तैजसपुद्गलों के साथ जो सम्बन्ध होता है उसे औदारिक-तैजसबंधन कहते हैं।

९. पूर्वश्रहीत और गृह्णमाण औदारिक पुद्गलों का पहले ग्रहण किये हुए और ग्रहण किये जा रहे कार्मण पुद्गलों के साथ जो सम्बन्ध

होता है उसे औदारिकका मणिलभूत कहते हैं।

अ—१०. पूर्व में ग्रहण किये हुए और ग्रहण किये जा रहे वैक्रिय, तैजस और कार्मण इन तीनों के पुद्गलों का परस्पर जो सम्बन्ध होता है उसे वैक्रिय-तैजसका मणिबंधन कहते हैं।

अ ११-१२. इसी प्रकार आहारक-तैजसका मणिबंधन और औदारिकतैजसका मणिबंधन का स्वरूप भी समझ लेना चाहिए।

पूर्वोक्त नौ बंधन भेदों के साथ इन तीनों बंधनों को जोड़ने पर बंधन के कुल बारह भेद कहे जा सकते हैं। अब शेष रहे तीन बंधनों के लक्षण बतलाते हैं—

ब—१३. पूर्व में ग्रहण किए हुए तैजस पुद्गलों का ग्रहण किये जा रहे तैजस पुद्गलों के साथ परस्पर जो सम्बन्ध होता है, उसे तैजस-तैजसबंधन कहते हैं।

ब—१४. पूर्वग्रहीत और गृह्यमाण तैजस पुद्गलों का पूर्व में ग्रहण किये हुए और ग्रहण किये जा रहे कार्मणपुद्गलों के साथ जो सम्बन्ध होता है उसे तैजसका मणिबंधन कहते हैं।

१५ पूर्व में ग्रहण किये हुए कार्मणपुद्गलों का ग्रहण किये जा रहे कार्मणपुद्गलों के साथ जो परस्पर सम्बन्ध होता है, उसे कार्मण-कार्मणबंधन कहते हैं।

इन तीन बंधनों को पूर्वोक्त बारह बंधनभेदों के साथ जोड़ने पर कुल पन्द्रह बंधन होते हैं। अतः—

इस प्रकार बंधननामकर्म के पन्द्रह भेद मानने वाले आचार्यों के मतानुसार पन्द्रह बंधनों का स्वरूप जानना चाहिये।<sup>1</sup> परस्तु जो

<sup>1</sup> दिग्मवर कर्मशाहित्य में बंधननामकर्म के पाँच भेद माने हैं, संयोगी पन्द्रह भेद नहीं। लेकिन शशीरनाम के पाँचों शशीर के संयोगी भेद पन्द्रह कहे हैं। उम्मके सामने तो यही बताये गये बंधननामकर्म के पन्द्रह भेदों के नाम जैसे हैं, अन्तर यह है कि अंत में बंधननाम के बजाय शशीरनाम

आचार्य पञ्चह बंधनों की विवक्षा नहीं करते हैं, उनके मतानुसार पांच बंधन और उनके समान बंधन्य होने से पांच संघातनों का स्वरूप कहकर नामकर्म के भेदों का उपसंहार करते हैं—

ओरालियाइयाणं संघाया बंधणाणि य सजोगे ।

बंधसुभसंतउदया आसज्ज अणेगहा नाम ॥१२॥

**शब्दार्थ**—**ओरालियाइयाण**—ओदारिकादि शरीरों के, संघाया—संघातन, अंधणाणि—बंधन, य—और, सजोगे—अपने योग्य पुद्गलों के योग से, बंध—बंध, शुभ—शुभ, संत—सत्ता, उदया—उदय के, आसज्ज—आशय से, अणेगहा—अपने के प्रकार का, नाम—नामकर्म ।

**गाथार्थ**—**ओदारिकादि शरीरों** के संघातन और बंधन अपने-अपने योग्य पुद्गलों के योग से होते हैं । बंध, शुभ, सत्ता और उदय के आशय से नामकर्म अनेक प्रकार का है ।

**विशेषार्थ**—गाथा के पूर्वांश में पांच बंधन और पांच संघातन होने का कारण बतलाकर नामकर्म के अनेक प्रकार होने की अपेक्षाओं को बतलाया है । इनमें से पहले पांच बंधन और पांच संघातनों का स्वरूप बतलाते हैं—

ओदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण शरीरों का अपने योग्य पुद्गलों के साथ योग होने पर उनका संघात और बंध

का प्रयोग किया है । जैसे—ओदारिक-ओदारिकशरीरनामकर्म इत्यादि । ये ऐद अपने-अपने शरीर, तैजस और कार्मण का संयोग करने पर बनते हैं—

तैजाकर्मेहि तिए तैजा कर्मेण कर्मणा कर्म्य ।

कथ संयोगे चदु चदु चदु चुग एका च पयडीओ ॥

—दि. कर्मप्रकृति गा. ६६

होता है, लेकिन पर-पुद्गलों के साथ योग होने पर भी उनकी विवक्षा नहीं किये जाने से संघात या बंधन नहीं होता है। जिससे बंधन और संघात पांच पांच ही होते हैं। जिसका आधार यह है कि यद्यपि औदारिकादि पुद्गलों का पर—तैजस आदि के पुद्गलों के साथ संयोग होता है, लेकिन संयोग होना मात्र ही बंध नहीं कहलाता है। क्योंकि संघात बिना बंधन नहीं होता है—'नासंहस्रस्य बंधनभिति।' इसलिए पर-पुद्गलों के साथ होने वाले संयोग की यही विवक्षा नहीं करने से पांच ही बंधन और पांच ही संघातन माने जाते हैं।

**प्रश्न**—जो आचार्य पर-पुद्गलों के संयोगरूप बंधन के होते हुए भी उसकी विवक्षा न करके पांच बंधन मानते हैं, उनके मत से क्योंकि संघातन नामकर्म के पांच भेद सम्भव हैं, किन्तु बन्धन के पन्द्रह भेद मानने वाले आचार्यों के मत से 'संघातरहित' का बंधन सम्भव नहीं होते' के व्याय के अनुसार संघातन के भी पन्द्रह भेद मानना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार का पुद्गलों का पिंड हो, तदनुसार बंधन होता है। किन्तु ऐसा मानने पर पूर्वपिर में विरोध हो जायेगा। क्योंकि कोई भी संघातन के पन्द्रह भेद नहीं मानते हैं। सभी पांच ही भेद मानते हैं।

**उत्तर**—यह कथन उथयुक्त नहीं है। क्योंकि उन्होंने संघातन का लक्षण ही अन्य प्रकार का किया है। संघातननामकर्म का लक्षण वे इस प्रकार का करते हैं—मात्र पुद्गलों की संहति-समूह होने में संघातननामकर्म हेतु नहीं है। क्योंकि समूह तो ग्रहणमात्र से ही सिद्ध है—जिससे मात्र संहति में हेतुभूत संघातनामकर्म मानने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु औदारिक आदि शरीरों की रचना के अनुकूल संघात-विशेष—पिंडविशेष उन-उन पुद्गलों की रचनाविशेष होने में संघातनामकर्म निमित्त है और रचना तो औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस अथवा कार्मणवर्गणा के पुद्गलों की ही होती है। क्योंकि लोक में औदारिकादि शरीर योग्य पुद्गल हैं और उनके हेतुभूत औदारिकादि नामकर्म हैं। किन्तु औदारिक - तैजसवर्गणा या औदारिक-

कार्मणवर्गणादि नहीं हैं, इसी प्रकार उनके हेतुभूत औदारिक-तैजस-नामकर्म आदि भी नहीं हैं, जिससे उस प्रकार की वर्गणाओं को ग्रहण करके रखना हो। परन्तु औदारिकवर्गणा है और उसका हेतुभूत औदारिकनामकर्म है। औदारिकादि नामकर्म के उदय से तत्त्व शरीर योग्य वर्गणाओं का ग्रहण और औदारिकादि संघातननामकर्म के उदय से औदारिकादि शरीर के योग्य रखना होती है और औदारिकादि बंधन-नामकर्म के उदय से उनका औदारिक आदि शरीरों के साथ सम्बन्ध होता है। यानी आत्मा जिस शरीरनामकर्म के उदय से जिन पुद्गलों को ग्रहण करती है, उन पुद्गलों की रखना उस शरीर का अनुसरण करके ही होती है, फिर वाहे सम्बन्ध किसी के भी साथ हो।<sup>१</sup> इसलिए संघातननामकर्म से पांच प्रकार का ही है और अलग-अलग शरीरों के साथ सम्बन्ध होने से बंधन के पन्द्रह भेद हैं।

संघातननामकर्म के पांच भेदों के नाम इस प्रकार हैं—१. औदारिकसंघातन, २. वैक्रियसंघातन, ३. आहारकसंघातन, ४. तैजस-संघातन और ५. कार्मणसंघातन।

औदारिकशरीर की रखना के अनुकूल औदारिक पुद्गलों की संहति—रखना होने में निमित्तभूत जो कर्म, उसे औदारिकसंघातन-नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार शेष चार संघातननामकर्मों के अर्थ समझ लेना चाहिये।

१ उक्त कथन का आशय यह है कि असुक प्रमाण में ही लम्बाई-सोटाई आदि निविषत प्रमाणवाली औदारिकादि शरीर की रखना के लिये समूह-विशेष की—औदारिकादि शरीर का अनुसरण करने वाली रखना की आवश्यकता है और उससे ही शरीर का तारतम्य होता है। इसलिये समूह-विशेष के कारणहृष में संघातननामकर्म अवश्य मानना चाहिये। यानी औदारिकादि नामकर्म के उदय से जो औदारिकादि पुद्गलों का ग्रहण किया जाता है, उनकी नियत प्रमाण वाली रखना होने में संघातननामकर्म कारण है।

नामकर्म की पूर्व में जो तेरानवै प्रकृतियां बललाई हैं, उनका वंश, शुभाशुभत्व आदि की अपेक्षा वर्णीकरण इस प्रकार करना चाहिये—

वंश एवं उदय की अपेक्षा तेरानवै प्रकृतियों में से वर्णादि सोलह, वंशनपंचक और संघातनपंचक इन छहबीस प्रकृतियों की कम करने पर सङ्ख्या (६७) प्रकृतियों बाला है तथा शुभाशुभत्व की अपेक्षा वर्णादिचतुष्क के दो प्रकार हैं—शुभ और अशुभ। जिससे शुभ या अशुभ किन्हीं भी प्रकृतियों की संख्या में वर्णादिचतुष्क को जोड़ा जाता है तब सभी शुभ और अशुभ प्रकृतियां मिलकर (६७ + ४ = ७१) होती हैं और जब सत्ता का विचार किया जाता है तब वर्णादि बीस वंशनपंचक और संघातनपंचक इन सभी प्रकृतियों का ग्रहण होने से तेरानवै प्रकृतियां कही जाती हैं। इस प्रकार संख्याभेद की अपेक्षा नामकर्म अनेक प्रकार का है।

वर्णादिचतुष्क को शुभ और अशुभ दोनों वर्गों में ग्रहण करने पर जिज्ञासु यदि यह कहे कि जिस रूप में वर्णादिचतुष्क पुण्य हों, उसी रूप में पाप भी माने जायें तो यह कथन योग्य नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने में प्रत्यक्ष विरोध है, तो इसका समाधान यह है कि यह सामान्य में शुभाशुभत्व का संकेत किया है। लेकिन उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा उनमें से किन्हें शुभ और किन्हें अशुभ मानना चाहिये, उनके नाम इस प्रकार हैं—

नील कसीण दुर्गाधं तित्त कहुयं गुरु खरं रुक्खं ।

सीयं च असुमनवर्णं एगारसंगं सुभं सेसं ॥१३॥

**शब्दार्थ—**नील कसीण—नील और कृष्ण, दुर्गाधं—दुर्गाध, तित्त—तित्त, कहुयं—कटुक, गुरु—गुरु, खरं—कर्कश, रुक्खं—रुक्ख, सीयं—धीत, च—जीर, असुमनवर्णं—प्रशुभत्वक, एगारसंगं—ग्यारह, सुभ—शुभ, सेस—योष।

**माथार्थ—**(वर्णचतुष्क की पूर्वीक्त बीस प्रकृतियों में से) नील और कृष्ण ये दो वर्ण, दुर्गाध, तित्त और कटु ये दो रस,

गुरु, कर्कश, रुक्ष और शीत ये चार स्पर्श, कुल मिलाकर वौ प्रकृतियाँ अशुभनवक कहलाती हैं और शेष म्यारह प्रकृतियाँ शुभ हैं।

**विशेषार्थ**—वर्ग, गंध, रस और स्पर्श के क्रमशः पांच, दो, पांच और आठ—कुल बीस भेद बतलाए जा चुके हैं। उनमें से जो प्रकृतियाँ शुभ और जो प्रकृतियाँ अशुभ हैं, इसको गाथा में स्पष्ट किया है। अशुभ और शुभ वर्ग में यहीं प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

वर्णनामकर्म में नील और कृष्ण वर्ण, गंधनामकर्म में दुरभिगंध, रसनामकर्म के भेदों में तिक्त (तीखा, चरपरा) और कटुक (कड़वा) रस तथा स्पर्श नामकर्म में गुरु, कर्कश, रुक्ष और शीत स्पर्श ये अशुभ वर्णादिवतुष्क की नौ प्रकृतियाँ हैं। अर्थात् दो वर्ण, एक गंध, दो रस और चार स्पर्श के ताम मिलाने से वर्णचतुष्क की ( $2+1+2+4=9$ ) नौ प्रकृतियाँ अशुभ समझना चाहिये।

वर्णचतुष्क की उक्त नौ अशुभ प्रकृतियों के सिवाय शेष रही म्यारह प्रकृतियाँ शुभ हैं—‘एग्गरसगं शुभं सेसं’। जिनकी संख्या और नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

**शुभ वर्णनामकर्म**—शुक्ल, पीत, रक्त वर्ण,

**शुभ गंधनामकर्म**—सुरभिगंध (सुगंध),

**शुभ रसनामकर्म**—मधुर, अम्ल, कषाय रस,

**शुभ स्पर्शनामकर्म**—लघु, मृदु, स्तिर्घ, उल्ज स्पर्श।

इस प्रकार तीन वर्ण, एक गंध, तीन रस और चार स्पर्श के भेदों को मिलाने से ( $3+1+3+4=11$ ) वर्णचतुष्क के म्यारह भेद शुभ प्रकृतियों में माने जाते हैं।

इस प्रकार से ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की उत्तरप्रकृतियों की संख्या और उनके नामों को जानना चाहिये। अब उन प्रकृतियों का जिन विधिधि संज्ञाओं की अपेक्षा वर्गीकरण किया गया है, उन संज्ञाओं के नाम बतलाते हैं।

## वर्गोकरण की संज्ञायें

ध्रुवबंधिध्रुवोदय सर्वधात् परियत्तमाण असुभाओ ।

पंच य सप्तदिवक्षया पगई य विवागओ चउहा ॥१४॥

**शास्त्रार्थ—**ध्रुवबंधि—ध्रुवबंधी, ध्रुवोदय—ध्रुवोदय, सर्वधाति, परियत्तमाण—परावर्तमान, असुभाओ—अशुभ, पंच—पांच, य—और, सप्तदिवक्षय—सप्रतिपक्षा, पगई—प्रकृति, य—और, विवागओ—विषयक की अपेक्षा, चउहा—चार प्रकार ।

**गाथार्थ—**ज्ञातावरणादि की उक्त उत्तारप्रकृतियों के ध्रुवबंधी, ध्रुवोदय, सर्वधाति, परावर्तमान और अशुभ ये पांचों भेद प्रतिपक्ष सहित दस होते हैं और विषयक की अपेक्षा चार भेद हैं ।

**विशेषार्थ—**कर्मसिद्धान्त में जिन आपेक्षिक संज्ञाओं द्वारा ज्ञानावरणादि आठों कर्मों की उत्तारप्रकृतियों का वर्गीकरण किया गया है, उनमें से कतिपय नाम गाथा में बतलाये हैं और शेष के लिए संकेत किया है—

ध्रुवबंधिनी, ध्रुवोदया, सर्वधातिनी, परावर्तमाना और अशुभ और इन पांचों को अध्रुवबंधिनी आदि प्रतिपक्ष सहित करने पर दस भेद होते हैं तथा 'पंच य' इस पद में आगत 'य—च' शब्द द्वारा सप्रतिपक्ष सत्ता प्रकृतियां समझ लेना चाहिये तथा विषयक की अपेक्षा ये सभी प्रकृतियां चार प्रकार की हैं—पुद्गलविषयाकिनी, भवविषयाकिनी, क्षेत्रविषयाकिनी और जीवविषयाकिनी । इस प्रकार गाथा में कुल मिलाकर वर्गीकरण की सोलह संज्ञाओं के नाम बतलाये हैं । जिनके नाम इस प्रकार हैं—

१. ध्रुवबंधिनी, २. अध्रुवबंधिनी, ३. ध्रुवोदया, ४. अध्रुवोदया,
५. ध्रुवसत्ताका, ६. अध्रुवसत्ताका, ७. सर्वधातिनी, ८. देशधातिनी,
९. परावर्तमान, १०. अपरावर्तमान, ११. अशुभ, १२. शुभ, १३. पुद्गलविषयाकिनी, १४. भवविषयाकिनी, १५. क्षेत्रविषयाकिनी और १६.

जीवविद्याकिनी। इन सोलह वर्गों के अतिरिक्त अपेक्षा भेद से दूसरे भी जिन वर्गों में प्रकृतियों का वर्गीकरण किया है, उनके नाम और उनमें गृहीत प्रकृतियों के नाम कारणसहित यथास्थान आगे बताये जायेंगे।

इन ध्रुवबंधिनी आदि के लक्षण स्वयं ग्रन्थकार आगे कहने वाले हैं, लेकिन प्रासंगिक होने से यहाँ संक्षेप में उनके लक्षण बतलाते हैं।

बंधविच्छेद काल पर्यन्त प्रति समय प्रत्येक जीव को जिन प्रकृतियों का बंध होता है, उन्हें ध्रुवबंधिनी और बंधविच्छेद काल तक भी सर्वकालावस्थायी जिनका बंध न हो, उन्हें अध्रुवबंधिनी प्रकृति कहते हैं।

उदयविच्छेद काल पर्यन्त प्रत्येक समय जीव को जिन-जिन प्रकृतियों का विषाकोदय होता है वे ध्रुवोदय और उदयविच्छेद काल तक भी जिनके उदय का नियम न हो वे अध्रुवोदय प्रकृति कहलाती हैं।

अपने द्वारा धात किये जा सके ऐसे ज्ञानादि गुणों का जो सर्वथा धात करती है वे प्रकृतियाँ सर्वधातिनी और उनकी प्रतिपक्षी प्रकृतियाँ देशधातिनी अथवा सर्वधाति प्रतिभागा सर्वधातिसहश प्रकृति कहलाती हैं। यहाँ सर्वधाति की प्रतिपक्ष प्रकृतियों में देशधाति और अधाति इन दोनों का ग्रहण किया गया है। उनमें से अपने द्वारा धात किये जा सके ऐसे ज्ञानादि गुणों के एकदेश का जो धात करें वे देशधातिनी और सर्वधातिनी प्रकृतियों के संसर्ग से जिन प्रकृतियों में सर्वधाति प्रकृतियों जैसा साहश्य हो वे सर्वधातिप्रतिभागा कहलाती हैं। तात्पर्य यह है कि स्वयं स्वरूपतः अधाति होने से अपने में ज्ञानादि गुणों के आवृत करने की शक्ति न होने पर भी सर्वधाति प्रकृतियों के संसर्ग से अपना अलि दारण विषाक बतलाती हैं। वे सर्वधाति प्रकृतियों के साथ चेदन किये जाते हुए दारण विषाक बतलाने वाली होने से उन प्रकृतियों के साहश्य को प्राप्त करती हैं, जिससे वे सर्वधातिप्रतिभागा कहलाती हैं।

जिन प्रकृतियों का बंध अथवा उदय अन्य वस्तुमान या वेद्यमान प्रकृति के द्वारा प्रकाश के द्वारा अन्धकार की तरह निसह हो, रोका जाये वे परावर्तमान कहलाती हैं। अर्थात् जिस-जिस समय प्रतिपक्षी प्रकृतियों का बंध इस उदय समझक हो, उस-उस रागाद जो अपने-अपने बंध और उदय आश्रयी परावर्तमानभाव को प्राप्त करें और युग्म यथायोग्य अपने बंध और उदय के हेतु भिलने पर बंध और उदय को प्राप्त हों। इस प्रकार बंध और उदय में परावर्तमान होते रहने से वे परावर्तमाना प्रकृति कहलाती हैं और इनसे विपरीत प्रकृतियां अपरावर्तमाना हैं। अर्थात् जिनका बंध या उदय अथवा दोनों वेद्यमान या बध्यमान प्रकृतियों के द्वारा प्रतिपक्षी प्रकृतियों के नहीं होने से नहीं रुकता है वे अपरावर्तमाना प्रकृतियां हैं।

सारोंश यह हुआ कि जो प्रकृतियां अन्य प्रकृतियों के बंध और उदय को रोके विना ही अपना बंध उदय बताती हैं वे अपरावर्तमाना और जो प्रकृतियां अन्य प्रकृतियों के बंध, उदय अथवा बंधोदय इन दोनों को रोककर अपना बंध, उदय अथवा बंधोदय दोनों को बतलाती हैं, वे परावर्तमाना प्रकृति कहलाती हैं।

जिन प्रकृतियों का विपाक—फल शुभ न हो वे अशुभ-काय और जिनका विपाक शुभ हो वे शुभ-पुण्य प्रकृतियां कहलाती हैं।

विक्षेपकाल से पूर्व तक जिन प्रकृतियों की प्रत्येक समय सभी जीवों में सत्ता पाई जाये वे ध्रुवसत्ताका और विक्षेपकाल से पहले भी जिनकी सत्ता का नियम न हो, वे अध्यवस्ताका प्रकृति कहलाती हैं।

जिन प्रकृतियों का पुद्गल, भव, क्षेत्र और जीव के माध्यम की मुख्यता से फल का अनुभव होता है, वे प्रकृतियां क्रमशः पुद्गल-विपाकिनी, भवविपाकिनी, क्षेत्रविपाकिनी और जीवविपाकिनी कहलाती हैं।

इस प्रकार सामान्य से वर्गीकरण की संज्ञाओं का स्वरूप बतलाने के पश्चात् अब कारण सहित प्रत्येक वर्ग में प्रहृण की गई प्रकृतियों के नाम बतलाते हैं।

## ध्रुव-अध्रुव वंशिनी प्रकृतियाँ

नाणसरायदंसण ध्रुववंधि कसायमिञ्छभयकुचला ।

अगुरुलघु निमिण तेयं उवधायं वर्णनचउकम्मं ॥१५॥

**शब्दार्थ—**नाणसरायदंसण—ज्ञानावरण, अन्तराय और दर्शनावरण, पृथक्कथि—ध्रुववंशिनी, कसायमिञ्छभयकुचला—कसाय, मिथ्यात्व, भय और जुगुप्सा, अगुरुलघु—अगुरुलघु, निमिण—निमिण, तेयं—सैजस, उवधायं—उपधात, वर्णनचउ—वर्णनचतुष्क, कम्मं—कार्मणशरीर।

**गाथार्थ—**ज्ञानावरण, अन्तराय और दर्शनावरण की प्रकृतियाँ, कसाय, मिथ्यात्व, भय, जुगुप्सा, अगुरुलघु, निमिण, तेयं, उपधात, वर्णनचतुष्क और कार्मणशरीर से ध्रुववंशिनी प्रकृतियाँ हैं।

**विशेषार्थ—**ध्रुववंशित्व, अध्रुववंशित्व का विचार बंधयोग्य प्रकृतियों की अपेक्षा ही किया जाता है। बंधयोग्य प्रकृतियाँ एक सौ बीस हैं। उनमें से ध्रुववंशिनी प्रकृतियों के नाम यहाँ बतलाये हैं। इस प्रक्षण में कुछ एक प्रकृतियों का तो सामान्य से निर्देश किया है और कुछ एक के पृथक्-पृथक् नाम बतलाये हैं। सामान्य से जिन प्रकृतियों का नामनिर्देश किया गया है, वे हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और कसाय। अर्थात् इनमें अन्ताभूत सभी प्रकृतियाँ—ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, अन्तरायपंचक और सोलह कसाय<sup>१</sup> तथा इनके अलावा मिथ्यात्व, भय और जुगुप्सा कुल मिलाकर घातिकर्म की अड़तीस प्रकृतियाँ तथा अगुरुलघु, निमिण, तैजसशरीर, उपधात, वर्णनचतुष्क और कार्मणशरीररूप नामकर्म की नौ प्रकृतियाँ<sup>२</sup>,

१ अनन्तानुवर्धी, अप्रत्याह्यानावरण, प्रत्याक्यानावरण, संज्ञवक्त्र ओष्ठादि अनुष्टुप्क ।

२ आगे यहाँ कहीं भी नामकर्म की ध्रुववंशिनी प्रकृतियों के ग्रहण करने का संकेत आये वहाँ इन नी प्रकृतियों को ग्रहण किया गया समझना चाहिये ।

इस प्रकार वातिकर्म की अड़तीय और नामकर्म की नी प्रकृतियों को मिलाने पर कुल सेतालीय प्रकृतियां ध्रुवबंधिनी मानी जाती हैं ।

अब इन प्रकृतियों को ध्रुवबंधिनी मानने के कारण को स्पष्ट करते हैं—

आनावरणादि अष्टकमों में मोहनीयकर्म प्रधान है और उसमें भी मिथ्यात्वमोहनीय प्रमुख है । अतः सर्वप्रथम उसी के ध्रुवबन्धी मानने के कारण को बतलाते हैं कि मिथ्याहृष्टगुणस्थान पर्यन्त मिथ्यात्व-मोहनीय का निरन्तर बंध होता है अर्थात् जहाँ तक मिथ्यात्वमोहनीय का वेदन किया जाता है, वहीं तक उसका निरन्तर बंध होता रहता है और उसके पश्चात् मिथ्यात्व का उदयरूप हेतु का अभाव होने से बंध भी नहीं होता है । क्योंकि शास्त्र में कहा गया है—‘जे वेयइ से वज्ञाइ’ अर्थात् जब तक उदय है तब तक बंध होता रहता है । पहले मिथ्याहृष्टगुणस्थान से परे (आगे) किसी भी गुणस्थान में मिथ्यात्व का उदयाभाव होने से दूसरे, तीसरे आदि ऊपर के गुणस्थान में उसका बंध नहीं होता है ।

अनन्तानुबंधिचतुष्क—अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और स्त्यानद्विधिक—निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानद्वि ये सात प्रकृतियों दूसरे सासादनसम्यग्हृष्टगुणस्थान तक निरन्तर बंधती रहती हैं । उससे आगे के गुणस्थानों में अनन्तानुबंधी कषायों का उदय-विच्छेद हो जाने से तत्सापेक्ष बंधयोग्य ये सात प्रकृतियां भी नहीं बंधती हैं ।

अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क चौथे अविरतसम्यग्हृष्टगुणस्थान पर्यन्त बंधती हैं और उससे आगे के गुणस्थानों में इनके उदय का अभाव होने से नहीं बंधती है और प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क देश-विरतगुणस्थान पर्यन्त बंधती है । क्योंकि अनन्तानुबंधिचतुष्क आदि आरह कषायों के लिए यह नियम है कि जहाँ अर्थात् जिस-जिस गुण-

स्थान तक उनका उदय हो वहाँ तक ही तउजन्य आत्मपरिणामों के द्वारा वे बंधती हैं।

निद्रा और प्रचला, ये दर्शनावरण की दो प्रकृतियाँ अपूर्वकरण-गुणस्थान के प्रथम समय तक निरन्तर बंधती रहती हैं और इसके बाद उनके बंधयोग्य परिणाम संभव न होने से बंधती नहीं हैं। इसी प्रकार अगुरुलघु आदि नामकर्म की नींधु वबंधिनी प्रकृतियाँ अपूर्वकरण-गुणस्थान के छठे भाग पर्यंत और भय, चुगुप्सा चरण समय तक, संज्वलन क्रोध, मान, माध्या और लोभ नौवें अनिवृत्तिवादरसंपरायगुणस्थान पर्यंत निरन्तर बंधती हैं किन्तु आगे के गुणस्थानों में बादर कषायों के उदय का अभाव होने से बंध नहीं होता है। क्योंकि इनका बंध बादर कषायोदय-सापेक्ष है।

सतिज्ञानावरण आदि ज्ञानावरणपञ्चक, दानान्तराय आदि अंतराय-पञ्चक और चक्रदर्शनावरण आदि दर्शनावरणचतुष्क कुल मिलाकर ये छोड़ ह प्रकृतियाँ दसवें सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के चरण समय तक निरन्तर बंधती हैं और तत्पश्चात् आगे के गुणस्थानों में उनके बंध की हेतुभूत कषायों का उदय नहीं होने से उनका बंध भी नहीं होता है।

इस प्रकार से सैतालीस प्रकृतियाँ धुवबंधिनी जानना चाहिए। इनसे शेष रही तिहतर प्रकृतियाँ अधुवबंधिनी हैं। क्योंकि जो प्रकृतियाँ अपने-अपने बंधकारणों के संभव होने पर भी भजनीयबंध वाली हैं अथवा जिनका कभी बंध होता है और कभी बंध नहीं होता है, वे प्रकृतियाँ अधुवबंधिनी कहलाती हैं। तिहतर प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

गतिचतुष्क, आमुपूर्वीचतुष्क, जातिपञ्चक, विहायोगतिद्विक, संस्थान-पट्टक, संहननषट्टक, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, औदारिकद्विक, श्रसदशक, स्थावरदशक, तीर्थकरणाम, आतप, उद्योत, पराश्रात, उच्छ्वास, साता-असातावेदनीय, उच्च-नीचगोत्र, हास्यचतुष्क—हास्य, रसि, शोक,

अरति, वेदात्मिक, आयुचतुष्क ।<sup>१</sup> ये तिहसर प्रकृतियों अपने-अपने बंध के सामान्य कारणों के होने पर भी परस्पर विरोधी होने से प्रतिसमय नहीं बंधती है किन्तु अमुक-अमुक भवादि योग्य प्रकृतियों का बंध होने पर बंधती है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पराधात् और उच्छ्वास नामकर्म का अविरति आदि अपने बंध-कारण होने पर भी अप्यतिप्रायोग्य प्रकृतियों के बंधकाल में वंश होता है और परमितप्रायोग्य प्रकृतियों के बंधकाल में ही बंध होता है । आत्पनामकर्म का एकेन्द्रियप्रायोग्य प्रकृतियों का बंध होने पर तथा उच्चोतनामकर्म का तिर्यचगतिप्रायोग्य प्रकृतियों का बंध होने पर ही बंध होता है । तीर्थकर नाम का सम्यक्त्व रूप बंधकारण के विश्वामान रहने पर भी कदाचित् ही बंध होता है । इसी तरह आहारकद्विक का सम्यम रूप निज बंधहेतु के विश्वामान रहते भी कदाचित् ही बंध होता है और शेष औदारिकद्विक आदि प्रकृतियों का भी सविपक्ष प्रकृति के होने से ही कदाचित् बंध होता है और कदाचित् बंध नहीं होता है ।

२ दिग्ब्रहर कर्मकाहित्य में इन्हीं तिहत्तर प्रकृतियों को अध्युभव्यादिनी बताया है । लेकिन निष्पतिपक्ष और सप्रतिपक्ष ऐसे दो भेद किये हैं और उनमें मनित प्रकृतियों इस प्रकार हैं—

निष्पतिपक्ष—पराधात्, उच्छ्वास, आत्प, उष्णोद, चारों आदु, तीर्थकर और आहारकद्विक, ये भारह प्रकृतियों निष्पतिपक्ष अध्युभव्यादिनी हैं ।

सप्रतिपक्ष—वेदनीयद्विक, वेदात्मिक, हास्यचतुष्क, आतिपचतुष्क, संसधानषट्क, संहस्रपद्मट्क, आमुप्रवर्चितुष्क, गतिचतुष्क, औदारिकद्विक, वैज्ञियद्विक, गोशद्विक, असदाशक, स्थावरदाशक, विहायोगतिद्विक, ये बासल प्रकृतियों सप्रतिपक्ष अध्युभव्यादिनी हैं ।

—दि. पंचसंग्रह भ० २ दृश्य-४०

—गो. कर्मकांड १२५-२७

इन सब कारणों से ये तिहत्तर प्रकृतियाँ अध्रुवबंधिनी मानी जाती हैं।

सेतालीस और तिहत्तर प्रकृतियों को क्रमशः ध्रुवबंधिनी और अध्रुवबंधिनी मानने में मुख्य हिण्ठ यह है कि विशेष-विशेष हेतुओं के विद्यमान रहने पर बंध होना या न होना ध्रुवबंधित्व और अध्रुव-बंधित्व का कारण नहीं है किन्तु सभी कर्मों के मिथ्यात्व आदि सामान्य बंधहेतुओं के सद्भाव में अवश्य ही बंध होना ध्रुवबंधित्व है और इसके विपरीत अवस्था में अथवा सामान्य बंधकारणों के रहते हुए भी बंध नहीं होना अध्रुवबंधित्व है।

इस प्रकार सप्रतिपक्ष (अध्रुवबंधिनी सहित) ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का विवेचन करने के पश्चात् अब क्रमप्राप्त ध्रुवाध्रुवोदया प्रकृतियों की बतलाते हैं।

### ध्रुवाध्रुवोदया प्रकृतियाँ

निम्नाण्डिरायिरतेयकम्यवणाइ अगुरुसुहमसुहं ।

नाणंतरायदसगं दंसणचउ मिच्छु निच्छुदया ॥१६॥

**शब्दार्थ—**निम्नाण—निम्नण, शिरायिर—स्थिर, अस्थिर, तेष—तैजस, कर्म—कार्मण, वणाइ—वणादिचतुष्क, अगुरुसुहमसुहं—अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, नाणंतरायदसगं—ज्ञानावरण-अन्तरायदशक, दंसणचउ—दर्शनावरण-चतुष्क, मिच्छु—मिथ्यात्व, निच्छुदया—नित्योदया, ध्रुवोदया।

**गाथार्थ—**निम्नण, स्थिर, अस्थिर, तैजस कार्मण, वण-चतुष्क, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक कुल दस प्रकृतियाँ एवं दर्शनावरणचतुष्क और मिथ्यात्व ये ध्रुवोदया प्रकृतियाँ हैं।

**विशेषार्थ—**गाथा में सत्ताइस ध्रुवोदया प्रकृतियों के नाम गिनाये हैं। इनमें से निम्नण से लेकर अशुभ नाम तक बारह प्रकृतियाँ

नामकर्म की हैं<sup>१</sup> और शेष पच्छह घाति प्रकृतियां हैं। ये प्रकृतियां ध्रुवोदया इसलिए कहलाती हैं कि उदयकाल के विष्णुदेव होने से पहले तक इनका निरन्तर उदय रहता है। जिसका स्थानीकरण इस प्रकार है—

मिथ्यात्व प्रकृति पहले मिथ्याद्विष्टगुणस्थान तक ध्रुवोदय वाली है। आगे उदयविच्छेद हो जाने से दूसरे आदि गुणस्थानों में इसका उदय नहीं रहता है तथा शेष मतिज्ञानावरण आदि के बलदर्शनावरण पर्यन्त चौदह घाति प्रकृतियां बारहवें कीणमोहगुणस्थान के अन्तिम समय तक ध्रुवरूप से उदय में रहती हैं, जिससे वे ध्रुवोदया कहलाती हैं।

निम्नांग आदि अशुभ नाम पर्यन्त नामकर्म की बारह प्रकृतियां तेरहवें संयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय तक उदय में रहने और तत्पश्चात् उदयविच्छेद हो जाने से ध्रुवोदया कहलाती हैं।

उक्त सत्ताईस प्रकृतियों के अतिरिक्त उदययोग्य एक सी बाईस प्रकृतियों में से शेष रहीं पंचामवें प्रकृतियां अध्रुवोदया हैं। जिनके नाम हैं—स्थिर, अस्थिर, शुभ और अशुभ इन चार के बिना शेष उन्तार अध्रुवबधिनी प्रकृतियां, मिथ्यात्व के बिना मोहनीय की अध्रुवबधिनी अठारह प्रकृतियां, पांच निद्रायें, उपघातनाम, मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय। इनके अध्रुवोदया होने का कारण यह है कि गतिनाम आदि अनेक प्रकृतियां परस्पर विरोधी हैं और तीर्थकर आदि कितनी ही प्रकृतियों का सर्वदा उदय होता नहीं है। इसीलिये पंचामवें प्रकृतियां अध्रुवोदया भानी जाती हैं।

इस प्रकार ध्रुव-अध्रुव की अपेक्षा उदय प्रकृतियों का विचार करने के पश्चात् सर्वधाति, देशधाति प्रकृतियों को बतलाते हैं।

<sup>१</sup> जहाँ कहीं भी ध्रुवोदया नामकर्म की प्रकृतियों का उल्लेख हो वहाँ इन बारह प्रकृतियों का ग्रहण करना चाहिए।

सर्वधाति देशधाति प्रकृतियाँ

केवलियनाणदंसण आवरणं बारसाइमकसाया ।

भिच्छत्तो निद्राओ इव वीर्सं सव्वधाईयो ॥१७॥

**शब्दार्थ—** केवलियनाणदंसण आवरण—केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, बारसाइमकसाया—आदि की बारह कथाय, मिष्ठ्यात्म—मिथ्यात्म, निद्राओ—(पांच) निद्रायें, इव—यह, वीर्सं—वीर्स, सव्वधाईयो—सर्वधाति ।

**गाथार्थ—** केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, आदि की बारह कथाय, मिथ्यात्म और निद्रापञ्चक ये बीस प्रकृतियाँ सर्वधाति हैं ।

**विशेषार्थ—** ज्ञानावरण आदि आठ मूल कर्म धाति और अधाति के भेद से दो प्रकार के हैं । ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मीहमीय और अन्तराय ये चार कर्म धाति हैं । अतः इनकी उत्तर प्रकृतियाँ भी धाति मानी जायेंगी । क्योंकि ये साक्षात् आत्मगुणों का धात करती हैं, उनकी आच्छादित करके आत्मशक्ति का विकास नहीं होने देतीं और इनसे शेष रहे वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार कर्म और इनकी उत्तर प्रकृतियाँ अधाति हैं । क्योंकि ये साक्षात् आत्मगुणों का सीधा नहीं करती हैं किन्तु धातिकर्मों को आत्मगुणों का धात करने में सहायक बनती हैं । धातिप्रकृतियों में भी कुछ ऐसी हैं जो आत्मा के परम रूप को प्रगट नहीं होने देती हैं और कुछ ऐसी हैं जो उसके स्वाभाविक गुणों को आंशिक रूप में धात करती हैं । परम रूप में धातक सर्वधातिनी और आंशिक रूप में धात करने वाली देशधातिनी कहलाती हैं । इन दोनों प्रकारों में से गाथा में सर्वधातिनी बीस प्रकृतियों के नाम बताये हैं—केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, अनन्तानुष्ठिकषायचतुष्क, मिथ्यात्म, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रथला, प्रथला-प्रथला और स्त्यानन्दि । इनके अतिरिक्त शेष रही धातिप्रकृतियों में से मतिज्ञाना-

वरणादि पञ्चीस प्रकृतियों देशधाति<sup>१</sup> तथा वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु इन चार कर्मों की सभी उत्तर प्रकृतियों अधाति हैं।

अब जाकर्त्तव्यप्रवर व्याप्तिकर्मों की प्रकृतियों को सर्वेदेशधातिनी मानने के कारण को बतलाते हैं—

सम्मतनाणदंसणचरित्तधाइत्तणा उ धाइओ ।

तस्सेस देसधाइत्तणा उ पुण देसधाइओ ॥१८॥

शब्दार्थ—सम्मत—सम्मत, नाम—ज्ञान, वंसण—दर्शन, चरित—चारित्र, धाइत्तणा—घात करने से, उ—और, धाइओ—घाति, तस्सेस—उनसे शेष रही, देसधाइत्तणा—देश का घात करने से, उ—और, पुण—पुण, देसधाइओ—देशधाति :

गाथार्थ—सम्मतत्व, ज्ञान, दर्शन और चारित्र का सर्वथा घात करने वाली होने से पूर्वोक्त केवलज्ञानावरण आदि बीस प्रकृतियों सर्वधाति हैं और उनसे शेष रही प्रकृतियों ज्ञानादि गुणों के देश का घात करने से देशधाति कहलाती है।

विशेषार्थ—गाथा में घाति प्रकृतियों के सर्वधातित्व और देशधातित्व के भेद के कारण को बतलाया है। सर्वप्रथम केवलज्ञानावरण आदि पूर्वोक्त बीस प्रकृतियों को सर्वधाति मानने के हेतु का संकेत किया है—

१ यहाँ सर्वधाति और देशधाति प्रकृतियों की संख्या क्रमशः जो बीस और पञ्चीस बतलाई है वह बंधानेता समझना चाहिये। क्योंकि मिथ्याद का बंध होने से बंधयोग्य प्रकृतियों में मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों छब्दीस प्रहृण की जाती है। लेकिन उदयायेका सर्वधातित्व और देशधातित्व का विचार किया जाये सो सम्बन्धमोहनीय देशधाति और मिथ्यमोहनीय सर्वधाति होने से सर्वधाति इककीस और देशधाति छब्दीस प्रकृतियों माझी जायेंगी। दिग्भवर कर्मसाहित्य में उदयायेका सर्वधाति देशधाति प्रकृतियों की संख्या क्रमशः इककीस और छब्दीस बताई है।

केवलज्ञानावरण आदि बीस प्रकृतियां यथायोग्य रीति से अपने द्वारा जिन गुणों का धात छो सकता है उन सम्यकत्व, ज्ञान, दर्शन और चारित्र गुण को सबलिमना धात करती हैं। वह इस प्रकार से समझना चाहिये कि मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधिकषायच्चतुष्क सम्यकत्व गुण का सर्वथा धात करती है। क्योंकि इनका उदय रहने तक औपशमिक, क्षायिक और क्षयोपशमिक सम्यकत्व में से कोई भी सम्यकत्व प्राप्त नहीं होता है। केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण अनुक्रम से केवलज्ञान और केवलदर्शन को पूर्णरूप से आवृत्त करते हैं। पाँच निद्रायें दर्शनावरणकर्म के क्षयोपशम से प्राप्त दर्शनिलिङ्घ को सर्वथा आच्छादित करती हैं। अप्रत्याख्यानावरणकषायच्चतुष्क का उदय रहते एकदेश चारित्र, व्रत, प्रत्याख्यान ग्रहण नहीं किये जा सकते हैं और प्रत्याख्यानावरणकषायच्चतुष्क सर्वविरति रूप चारित्र का सर्वथा धात करती है। इसीलिए ये मिथ्यात्व आदि सभी बीस प्रकृतियां सम्यकत्व आदि गुणों का सर्वथा धात करने वाली होने से सर्वधाति कहलाती हैं तथा उस बीस प्रकृतियों के सिवाय शेष रही चार धाति कर्मों की मतिज्ञानावरण आदि पञ्चवीस प्रकृतियां अपने-अपने विषय-भूत ज्ञानादि गुणों के एकदेश का धात करने वाली होने से देशधाति कहलाती हैं।

**उपर्युक्त समग्र कथन का सारांश यह है—**

यद्यपि केवलज्ञानावरणकर्म आत्मा के ज्ञानगुण को सम्पूर्ण रूप से धात करने—आच्छादित करने के लिए प्रदृढ़ होता है तथापि उसके द्वारा उस गुण समूल धात (नन्द) नहीं किया जा सकता है। यदि पूर्णरूप से धात कर दे तो जीव अजीव हो जाये और उससे जड़-बेतन के बीच अन्तर ही न रहे। जैसे सूर्य और चन्द्र की किरणों का आवरण करने के लिये प्रवर्तमान विशाल गाढ़ धनपटल के द्वारा उनकी प्रभा पूर्णरूप से आच्छादित नहीं की जा सकती है। यदि ऐसा न माना जाये तो लोकप्रसिद्ध दिन-रात के विभाग का ही अभाव हो जायेगा।

इसी प्रकार केवलज्ञानावरणकर्म के द्वारा केवलज्ञान का सम्पूर्ण रूप से आवरण किये जाने पर भी तत्सम्बन्धी जो कुछ भी मन्द, विशिष्ट और विशिष्टतर प्रकाशरूप मतिज्ञान आदि संज्ञा वाला जान का एक-देश विद्यमान रहता है, उस एकदेश को यथायोग्य रीति से मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मनवर्यायज्ञानावरण कर्म घातते हैं। इसलिये ये देशधातिकर्म हैं।

इसी प्रकार केवलदर्शनावरणकर्म के द्वारा केवलदर्शन को सम्पूर्ण रूप से आवृत करने पर भी तदभृत भन्द, मन्दतम, विशिष्ट और विशिष्टतर आदि रूप वाली जो प्रभा है और जिसकी चक्रुदर्शन आदि संज्ञा है, उसे यथायोग्य रीति से चक्रु, अचक्रु और अवधिदर्शनावरणकर्म आवृत करते हैं। इसलिए दर्शनगुण के एकदेश का घात करने से ये देशधातिकर्म कहलाते हैं।

यद्यपि निद्रादिक पांच प्रकृतियाँ केवलदर्शनावरणकर्म द्वारा अनावृत केवलदर्शन सम्बन्धी प्रभारूप दर्शन के एकदेश की आवृत करती हैं, तथापि दर्शनावरणकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई दर्शनलिङ्ग का समूच घात करती है, इसलिये उन्हें सर्वधातिनी कहा गया है।

संज्वलनकषायचतुष्क और नवनोकषाये अनन्तानुवधिकषाय-चतुष्क आदि बारह कषायों के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई चारित्रलिङ्ग का एकदेश से घात करती हैं। इसलिये वे देशधातिनी प्रकृतियाँ हैं। क्योंकि वे मात्र अतिचार उत्पन्न करती हैं। अथवा जिनका उदय सम्यक्त्व आदि गुणों का विनाश करता है, वे सर्वधातिनी कहलाती हैं और जो कषाये मात्र अतिचारों की जनक हैं, अतिचारों को उत्पन्न करता ही जिनका कार्य है उन्हें देशधातिनी कहा जाता है। जैसा कि कहा है—

सध्ये शिय बड़वारा संज्वलनाणि सु उदयो होति ।

मूलच्छेष्वं पुण होइ बारसर्हं कसायाम् ॥

अर्थात् चारित्र में सभी अतिथार संज्वलनकथायों के उदय से होते हैं और आदि की बारह कथायों के उदय से चारित्र का सूल से नाश होता है। सारांश यह हुआ कि धातिकर्मों के धोयोपवास से जीव को जो चारित्र उत्पन्न होता है, उसके एकदेश को संज्वलनकथायचतुष्क और नोकथायनवक धात करती हैं। इसीलिए संज्वलनकथायचतुष्क और नोकथाय देशधातिनी प्रकृतियाँ हैं।

इस संसार में प्रहण, धारण आदि के धोय जिस वस्तु को जीव न दे सके, न प्राप्त कर सके अथवा भोयोपभोग न कर सके और न सामर्थ्य की प्राप्ति कर सके वह दानान्तराय आदि पांच अन्तराय कर्म-प्रकृतियों का विषय है और यह दान, लाभ सर्व द्रव्यों का अनमतवां भाग ही एक जीव को प्राप्त होता है। इसलिये तदविषयक दानादि का विधात करने वाली होने से दानान्तराय आदि अन्तरायकर्म की प्रकृतियाँ देशधातिनी कहलाती हैं। अर्थात् जैसे ज्ञान के एकदेश को आवृत करने वाली होने से मतिज्ञानावरणादि प्रकृतियाँ देशधाति हैं, उसी प्रकार सर्व द्रव्य के एकदेशविषयक दानादि का विधात करने वाली होने से दानान्तराय आदि अन्तरायकर्म की पांचों प्रकृतियाँ भी देशधातिनी हैं तथा गाथा में आगत 'तु' शब्द अधिक अर्थ का सूचक होने से यह आशय लेना चाहिए कि नाम, गीत्र, वैदनीय और आयु कर्म एवं उनकी सभी उत्तरप्रकृतियाँ अपने द्वारा धात करने योग्य कोई गुण नहीं होने से किसी गुण का धात नहीं करती हैं। इसलिये उन्हें अव्याप्त ज्ञानना चाहिए।

इस प्रकार से सर्वधातिनी प्रकृतियों के सर्वधातित्व के कारण को ज्ञानना चाहिए। यद्यपि इसी प्रसंग में देशधातिनी प्रकृतियों के नाम और उनको देशधाति मानने के कारण का भी निर्देश कर दिया है, तथापि सरलता में बोध कराने के लिए ग्रन्थकार आचार्य उनके नामों का कथन करते हैं—

नाणावरणचउक्के दंसणतिग नोकसाथ विग्नपण ।

संजलण देशधाई तइय विग्नपो इमो अन्नो ॥१६॥

**शास्त्रार्थ—**—नाणावरणचउक्के—ज्ञानावरणचतुष्क, दंसणतिग—दर्शनावरण-  
श्रिक, नोकसाथ—नोकषाय, विग्नपण—अन्तरायपञ्चक, संजलण—संज्वलन-  
कषायचतुष्क, देशधाई—देशधासि, तइय—तीसरा, विग्नपो—विकल्प, इमो—  
यह, अन्नो—अन्य दूसरा ।

**शास्त्रार्थ—**—ज्ञानावरणचतुष्क, दर्शनावरणश्रिक, नोकषायचतुष्क,  
अन्तरायपञ्चक संज्वलनचतुष्क, ये देशधासि हैं। घातिप्रकृतियों में  
यह तीसरा विकल्प है ।

**विशेषार्थ—**—ग्रन्थकार आचार्य ने गाथा में देशधाति प्रकृतियों के  
नाम बतलाकर इनको धासि प्रकृतियों का एक विशेष भेद मानने का  
निर्देश किया है ।

‘नाणावरणचउक्के’ अथात् ज्ञानावरण के पांच भेदों में से केवल-  
ज्ञानावरण को छोड़कर शेष रहे मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण,  
अवधिज्ञानावरण, मतिपर्यायज्ञानावरण रूप ज्ञानावरणचतुष्क, चतु-  
दर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण रूप ‘दंसणतिग’  
दर्शनश्रिता, तीन वेद और हास्यादिषट्क रूप नवनोकषाय, दानान्तराय  
लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीयन्तराय रूप  
अन्तरायपञ्चक तथा संज्वलन क्रीध, मान, माया और लोभ रूप  
संज्वलनचतुष्क कुल मिलाकर पच्चीस प्रकृतियां देशधाति हैं और इनके  
देशधाति होने के कारण को पूर्व में सर्वधाति प्रकृतियों के विवेचन के  
प्रसंग में स्पष्ट किया जा चुका है ।

सर्वधासि और अधाति प्रकृतियों के विचार प्रसंग में ‘तइय विग्नपो  
इमो अन्नो’—देशधाति रूप यह एक तीसरा विशेष विकल्प है । अथात्  
धाति और उसका प्रतिपक्षी अधाति यही दो मुख्य हैं और ज्ञानान्य से  
घातिवर्ग की सभी प्रकृतियां आत्मगुणों का धात करने वाली होने से

धाति हैं, लेकिन उनकी धातिशक्ति की विशेषता बतलाने की अपेक्षा यह देशधाति रूप एक उपविभाग समझना चाहिए।

इस प्रकार से धाति, अचाति और देशधाति प्रकृतियों का विचार करने के पश्चात् अब परावर्तमान और अपरावर्तमान प्रकृतियों की बतलाते हैं।

### परावर्तमान-अपरावर्तमान प्रकृतियाँ

**नाण्ठंतरायदंसणचउषकं परघायतित्थउस्सासं ।**

**मिच्छुभयकुच्छु धुवर्बंधिणी उ नामस्स अपरियता ॥२०॥**

**शब्दार्थ—**नाण्ठंतराय—ज्ञानावरण (पूरक), तीर्थकरनाम (पंचम), दंसणचउषक—दर्शनावरणचतुषक, परघाय—पराधात, तित्थ—तीर्थकर नाम, उस्सासं—उच्छ्वासनाम, मिच्छुभयकुच्छु—मिथ्यात्व, भय, जुगुप्सा, धुवर्बंधिणी—धुवर्बंधिनी, उ—और, नामस्स—नामकर्म की, अपरियता—अपरावर्तमान।

**गाथार्थ—**ज्ञानावरण, अन्तराय, दर्शनावरणचतुषक, पराधात, तीर्थकर, उच्छ्वास, मिथ्यात्व, भय, जुगुप्सा और नामकर्म की धुवर्बंधिनी प्रकृतियाँ ये सभी अपरावर्तमान प्रकृतियाँ हैं।

**विशेषार्थ—**माथा में अल्पवस्तव्य होने के कारण पहले अपरावर्तमान प्रकृतियों का नामोल्लेख किया है। जिसका आशय यह हुआ कि अपरावर्तमान प्रकृतियों के सिवाय शेष प्रकृतियाँ परावर्तमान समझ लेना चाहिये। अपरावर्तमान प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

‘नाण्ठंतरायदंसणचउषकं’ अर्थात् ज्ञानावरण की मतिज्ञानावरण आदि पांचों प्रकृतियाँ, दानान्तराय आदि पांचों अन्तराय प्रकृतियाँ तथा दर्शनावरणचतुषक, पराधातनाम, तीर्थकरनाम उच्छ्वास, मिथ्यात्व, भय, जुगुप्सा मोहनीय और अमुरुलघु, निमणि, लैजस, उपघात, वर्णचतुषक और कार्मणशारीर नामकर्म की ये नी धुवर्बंधिनी प्रकृतियाँ, कुल मिलाकर उनतीस प्रकृतियाँ बंध और उदय के आश्रय

से अपरावर्तमान हैं। क्योंकि इन प्रकृतियों का बंध, उदय अथवा दोनों बंधने वाली या वेदमान अन्य प्रकृतियों के द्वारा घात नहीं किया जा सकता है। अर्थात् किसी भी प्रकृति के द्वारा बंध या उदय रोके जाने के बिना अपना बंध और उदय बतलाने से ये प्रकृतियां अपरावर्तमान कहलाती हैं।

इन उन्नतीस प्रकृतियों के अलावा बंध की अपेक्षा दोष रही इकानवे प्रकृतियाँ<sup>१</sup> और उदयापेक्षा समक्षत्व और सम्यग्मित्यात्म योहुनीय सहित तेरानवे प्रकृतियां परावर्तमान हैं। क्योंकि इनमें से कितनी ही प्रकृतियों का बंध उदय और कितनी ही प्रकृतियों का बंध-उदय (उभय) बंधने वाली या वेदमान अन्य प्रकृतियों के द्वारा रोका जाता है।

इस प्रकार से अपरावर्तमान-परावर्तमान वर्ष की प्रकृतियों को बतलाने के पश्चात् अब क्रमप्राप्त शुभ-अशुभ प्रकृतियों का निर्देश करते हैं।

### शुभ-अशुभ प्रकृतियाँ

मणुयतिगं देवतिगं तिरियाऊसास अट्ठतणुर्यगं ।

विहगइवण्णाइसुभं तसाइदसतित्थनिम्माणं ॥२१॥

चउरसउसभआयवपराधायपर्णिदि अगुहसाउर्चं ।

उज्जोयं च पसत्था सेसा बासीद अपसत्था ॥२२॥

१ इन प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

ओदारिकठिक, वैक्रियठिक, आहारकठिक, छह संस्थान, छह संहनन, पांच जाति, चार गति, दो विहायोगति, चार आनुपूर्वी, वेदविक, हास्य, रति, नीक, अरति, सोलह कथाय, उच्छ्रेत, आत्मप, दोनों शोत्र, दोनों वैदनीय, पांच निद्रा, त्रिसदशक, एवावरदशक, चार आगु।

**गायत्री—मण्डूयसिंग—मनुष्यात्रिक, देवतिश—देवतिक, तिरियालसास—  
तिर्थचायु, उच्चवासनाम, अट्ठतपुयंते—शरीर-अंगोपांग—अष्टक (पाँच शारीर,  
तीन अंगोपांग), विहायक्षणाहसुभ—शुभ विहायोगति और शुभ वर्णचतुष्क,  
लसाहस्रस—बहादि दशक, तित्प—तीर्थकरनाम, निर्माण—निर्मित्याम।**

**चतुर्स—ममुचतुरससंस्थान, उसभ—बज्जल्यभनाराचसंहनन, आप्य  
—आतप, पराधात, परिविष—पंचेन्द्रियजाति, अगुरुसाउच्चं—  
अगुरुहलधू, सातावेदनीय, उच्चगोक्र, उच्चोर्य—उच्चोत, च—और, पसरवा—  
प्रशस्त (शुभ), सेसा—शेष, बासीइ—बयासी, अपसत्या—अप्रसत्यस-अशुभ।**

**गायत्री—मनुष्यात्रिक, देवतिक, तिर्यचायु, उच्चवासनाम,  
शरीर-अंगोपांग अष्टक, शुभविहायोगति, शुभ-वर्णचतुष्क, त्रस-  
दशक, तीर्थकरनाम, निर्मित्याम, तथा—**

**समचतुरससंस्थान, बज्जल्यभनाराचसंहनन, आतपनाम,  
पराधातनाम, पंचेन्द्रियजाति, अगुरुहलधुनाम, सातावेदनीय, उच्च-  
गोक्र, उच्चोतनाम, मे शुभ प्रकृतियाँ हैं और इनमें शेष रही बयासी  
प्रकृतियाँ अशुभ हैं।**

**विशेषार्थ—उक्त दो गायत्रीओं में शुभ प्रकृतियों के नामों का कथन  
करके अशुभ प्रकृतियों की बतलाने के लिए सकेत किया है कि  
शुभ प्रकृतियों से शेष रही बयासी प्रकृतियाँ अशुभ हैं। शुभ प्रकृतियों  
के नाम इस प्रकार हैं—**

**'मण्डूयसिंग'—मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, देवतिश—देव-  
गति, देवानुपूर्वी, देवायु तथा तिर्यचायु, उच्चवासनाम, ओदारिक आदि  
पाँच शारीर और ओदारिक अंगोपांग आदि तीन अंगोपांग, शुभ विहा-  
योगति, शुभ वर्ण, गंध, रस, स्वर्ण रूप वर्णचतुष्क, ब्रह्मादिदशक—ब्रह्म,  
बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय और यशो-  
कीति, तीर्थकरनाम, निर्मित्याम, समचतुरससंस्थान, बज्जल्यभनारा-  
संहनन, आतप, पराधातनाम, पंचेन्द्रियजाति, अगुरुहलधुनाम, सात र**

बेदनीय, उच्चगोक्ष और उद्धोतनाम, कुल मिलाकर ये व्यालीस प्रकृतियां शुभ हैं और शेष प्रकृतियां अशुभ हैं। बंधव्यग्य एक सौ बीस प्रकृतियों की अपेक्षा शुभाशुभ प्रकृतियों की व्याप्ति की है।

उक्त प्रकृतियों में से वर्णादि चतुष्क की यह विशेषता है कि इनकी गणना शुभ प्रकृतियों में भी की जाती है और अशुभ में भी। अतः जब एक बार इनका ग्रहण शुभ में करेंगे तो व्यालीस शुभ और अठहत्तार प्रकृतियां अशुभ मानी जायेंगी। लेकिन जब शुभ में न करके अशुभ में ग्रहण करेंगे तब शुभ अड्डतीस और अशुभ प्रकृतियां व्याप्ति होंगी।

सम्यक्त्व और सम्यग्मित्यात्म सोहनीय उदय की अपेक्षा अशुभ हैं, बंध की अपेक्षा नहीं। क्योंकि इन दोनों का बंध ही नहीं होता है। जिससे इन दोनों प्रकृतियों का आगे कर्मप्रकृतिसंग्रह अधिकार में अनुग्रह-उद्दीरणा के प्रस्तुत में पृष्ठ पर्याय किया जाता है।

इस प्रकार से शुभ-अशुभ प्रकृतियों को बतलाने के साथ सप्रतिपक्ष ध्रुवबंधी आदि पांच द्वारों का कथन समाप्त होता है। अब पूर्व में जो 'विवागओ चउहा'—विपाक चार प्रकार का होता है, कहा गया था, तदनुसार विपाकापेक्षा प्रकृतियों का वर्गीकरण करते हैं।

### पूर्वगलविषाक्ती आवि प्रकृतियां

आयावं संठाणं संघयणसरीरञ्जं उज्जोर्य ।

नामधुवोदयउवपरचायं पत्तेय साहारं ॥२३॥

उदइयभावा पोगलविवागिणो आउ भवविवागीणि ।

खेलविवागणुपुच्ची जीवविवागा उ सेसाओ ॥२४॥

शब्दार्थी—आयावं—आतप, संठाणं—संस्थान, संघयण—संहसन, सरीर—शरीर, ञंग—ञंगोयांग, उज्जोर्य—उज्जीत, नामधुवोदय—नामकर्म की ध्रुवी-द्वया बारह प्रकृतियां, उवपरचायं—उपचात, पराघात, पत्तेय—प्रत्येक, साहारं—साहारण ।

**उत्तराधिकारी—** जीद्यिक भावभाली, पोमालविपाकिनी, आयु—आयुचतुष्क, भवविपाकिनी—भवविपाकिनी, क्षेत्रविपाकिनी—आनुपूर्वीचतुष्क क्षेत्रविपाकिनी हैं, जीवविपाकिनी, उ—जीर, सेसाक्षी—शेष।

**गाथार्थ—** आत्म, संस्थान, संहनन, शरीर, अंगोपांग, उद्दोत, नामकर्म की ध्युद्वेष्या बारह प्रकृतियाँ, उपधात, पराधात, प्रलयेक और साधारण ये जीद्यिकभाव वाली और पुद्गलविपाकिनी प्रकृतियाँ हैं। आयुचतुष्क भवविपाकिनी, आनुपूर्वीचतुष्क क्षेत्रविपाकिनी और इनसे शेष रही सभी प्रकृतियाँ जीवविपाकिनी हैं।

**विशेषार्थ—** इन दो गाथाओं में विपाक के आधार से कर्मप्रकृतियों का वर्गीकरण किया है। पूर्व में यह बताया जा चुका है कि विपाक की अपेक्षा प्रकृतियों के चार प्रकार हैं—पुद्गलविपाकी, भवविपाकी, क्षेत्रविपाकी और जीवविपाकी। अब इसी क्रम से प्रत्येक वर्ग में ग्रहण की गई प्रकृतियों को बतलाते हैं।

**पुद्गलविपाकी—** जो कर्मप्रकृतियाँ पुद्गल में अथवा पुद्गल के विषयभूत शरीरादिक में फल देने के सम्बुद्ध होती हैं, शरीरादिक में जिनके विपाकफल देने की प्रमुखता वाई आती है, वे प्रकृतियाँ पुद्गलविपाकी कहलाती हैं। यानी जिन प्रकृतियों के फल को आत्मा पुद्गल द्वारा अनुभव करती है, औदारिकशरीर आदि नामकर्म के उदय से ग्रहण किये हुए पुद्गली में जो कर्मप्रकृतियाँ अपनी शक्ति व्यक्त करती हैं, ऐसी प्रकृतियाँ पुद्गलविपाकी कहलाती हैं। ऐसी प्रकृतियाँ छह्तीस हैं।<sup>१</sup> जिनके नाम यह हैं—

१ दिगम्बर कर्मग्रन्थ गोमटसार कर्मकाण्ड (गाथा ४६-४८) में जी विपाकी प्रकृतियों को गिनाया है। उनमें पुद्गलविपाकी प्रकृतियाँ ६२ बतलाई हैं और यहाँ उनकी संख्या ३६ है। इस अन्तर का कारण यह है कि यहाँ

आतपनाम, समचतुरलसंस्थान आदि छह संस्थान, वज्राच्छवि-  
नाराचतुर्हनन आदि छह संहनन, तैजस्, कामेण को छोड़कर शेष  
औदारिक, वैक्रिय, आहारक शरीरशिक, अंगोपांगशिक, उद्योत तथा  
निमणि, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, तैजस् कार्य, नर्त, यंत्र, रस,  
स्पर्श और अगुरुलघुरूप नामकर्म की बारह ध्रुवोदया प्रकृतियाँ, उप-  
वात, पराधात, प्रत्येक और साधारण, कुल भिलाकर ये छहसीस प्रकृ-  
तियाँ पुद्गलविषयाकी हैं। वयोंकि ये सभी प्रकृतियाँ अपना-अपना  
विषाक-फलशक्ति का अनुभव औदारिकशरीर आदि नामकर्म के उदय  
में प्रहण किए हुए पुद्गलों में बतलाती हैं और उस प्रकार का उनका  
विषाक स्पष्ट रूप में दिखलाई देता है। इसी कारण ये सभी प्रकृतियाँ  
पुद्गलविषयाकी हैं।

अब यदि इस सभी प्रकृतियों का भाव की अपेक्षा विचार किया  
जाये तो उपर्युक्त सभी प्रकृतियाँ औदयिकभाव वाली होती हैं।  
वयोंकि उदय से विषय को औदयिक कहते हैं और वह भाव है  
स्वभाव जिनका वे प्रकृतियाँ औदयिकभाव वाली कहलाती हैं। तात्पर्य  
यह है कि फल का अनुभव करने रूप स्वभाव जिनका हो वे प्रकृतियाँ  
औदयिकभाव वाली कहलाती हैं।

यद्यपि सभी प्रकृतियाँ अपने फल का अनुभव तो करती ही हैं।  
लेकिन विषाक का जहाँ विचार किया जाता है, उस विचारप्रसंग में

बंधन और संभात प्रकृतियों के पांच-पाँच भेदों को छोड़ दिया है और  
वर्णचतुष्क के मूलभेद लिये हैं, उत्तरभेदों को नहीं लिया है जो बीस हैं।  
इस प्रकार  $10 + 16 = 26$  प्रकृतियों को कम करने से  $62 - 26 = 36$   
प्रकृतियाँ रहती हैं। यहाँ बंधयोग्य  $120$  प्रकृतियों को प्रहण किया है।  
जिनमें बंधन और संभात प्रकृतियाँ शरीर की अविनाशशी हैं और वर्ण-  
चतुष्क की उत्तरप्रकृतियाँ बंधयोग्य में न गिनकर मूल चार भेद लिये  
गये हैं।

औदयिकभाव ही उपर्योगी है, क्योंकि उदय के सिवाय विषाक सम्भव ही नहीं है। विषाक का अर्थ ही फल का अनुभव है। इसलिए यहाँ ये सभी प्रकृतियाँ औदयिकभाव वाली हैं, ऐसा जो गाथा में विशेषण दिया है, वह मात्र प्रकृतियों का जो स्वरूप है, उसका विवरण करने के लिए है, व्यवच्छेदक—पृथक् करने वाला नहीं है तथा यह विशेषण ऐसा भी निश्चित नहीं करता है कि ये पुद्गलविषाकी प्रकृतियाँ औदयिकभाव वाली ही हैं, अन्य भाव वाली नहीं हैं। क्योंकि आगे यथा-प्रसंग यह स्पष्ट किया जा रहा है कि क्षयिक और पारिणामिक यह दो भाव भी इनमें प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार से पुद्गलविषाकी प्रकृतियों का कथन करने के पश्चात् अब भवविषाकी प्रकृतियों को बतलाते हैं—

**भवविषाकी**—अपने योग्य नरकादि रूप भव में फल देने की अभिमुखतारूप विषाक जिसका होता है, वे प्रकृतियाँ भवविषाकी कहलाती हैं। अतएव 'आउ भवविवारीजि' अधिति आयुकर्म की चारों प्रकृतियाँ भवविषाकी हैं। इसका कारण यह है कि वर्तमान भव के दो आदि भाग बीतने के पश्चात् तीसरे आदि भाग में परभव सम्बन्धी आयु का वृंद होने पर भी जब तक पूर्वभव का क्षय होने के उपरान्त स्वयोग्य उत्तरभव प्राप्त नहीं होता है, तब तक इनका उदय नहीं होता है। इसीलिये आयुकर्म की चारों प्रकृतियाँ भवविषाकी हैं।

अब क्षेत्रविषाकी प्रकृतियों को बतलाते हैं—

**क्षेत्रविषाकी**—‘सितविवागण्युपवी’ अर्थात् नरकानुपूर्वी आदि चारी आनुपूर्वियाँ क्षेत्रविषाकी हैं। क्योंकि एक गति से दूसरी गति में जाने के कारणभूत आकाशमार्ग रूप क्षेत्र में फल देने की अभिमुखता वाला विषाक जिन प्रकृतियों का होता है, वे प्रकृतियाँ क्षेत्रविषाकी कहलाती हैं। और इन आनुपूर्वीचतुर्थक प्रकृतियों का उदय पूर्वगति से दूसरी गति में जाने वाले जीव को अपान्तराल भति (विग्रहगति) में होता है, शेष काल में नहीं तथा इनके उदय का आश्रय है आकाशरूप क्षेत्र। इसलिये ये

प्रकृतियाँ क्षेत्रविपाकी कहलाती हैं। यद्यपि अपने योग्य क्षेत्र की छोड़कर अन्यत्र भी इनका संक्रमितय सम्भव है, फिर भी इनका जैसा क्षेत्रहेतुक स्वविपाकोदय होता है, वैसा अन्य प्रकृतियों का नहीं होता है। इनके उदय में क्षेत्र असाधारण निमित्त है। अतः इनको ही क्षेत्रविपाकी प्रकृति कहा जाता है।

अब जीवविपाकी प्रकृतियों को बतलाते हैं—

**जीवविपाकी**—जीव के ज्ञानादि रूप स्वरूप का उपधात आदि करने रूप विपाक जिनका होता है वे प्रकृतियाँ जीवविपाकी कहलाती हैं। अर्थात् चाहे शरीर हो या न हो तथा भव या क्षेत्र कोई भी हो किन्तु जो प्रकृतियाँ अपने विपाकफल का अनुभव जीव के ज्ञानादि गुणों का उपधात आदि करने के द्वारा साक्षात् जीव को ही कराती हैं, उनको जीवविपाकी प्रकृति कहते हैं। वे प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं—

ज्ञानावरणपञ्चक, दर्शनावरणनवक, वेदनीयट्रिक, सम्यक्त्व और सम्यग्भिन्नत्व को छोड़कर मोहनीय की शेष छब्बीस प्रकृतियाँ, अन्तरायपञ्चक, गतिचतुष्टय, जातिपञ्चक, विहायोगतिट्रिक, असत्रिक, स्थावरशिक, सुस्वर, दुस्वर, सुभग, दुर्भग, आदेय, अनादेय, यदा-

१ यहाँपि द्वेताम्बर और दिग्म्बर परम्परायें आनुपूर्वी नामकर्म को क्षेत्रविपाकी मानते हैं। लेकिन स्वरूप को लेकर दोनों परम्पराओं में मतभेद है। द्वेताम्बर परम्परा के अनुसार 'पूर्वभव के शरीर को छोड़कर जब जीव परभव के शरीर को धारण करने के लिए जाता है तो आनुपूर्वी-नामकर्म श्रेणी के अनुसार गमन करते हुए उस जीव को उसके विशेषी में द्विती उत्पत्तिस्थान तक ले जाता है।' जिससे आनुपूर्वी का उदय के बाल कक्षाति में ही माना है—'पूर्वीउद्बोधकके ॥ किन्तु दिग्म्बर परम्परा में आनुपूर्वीनामकर्म पूर्वशरीर छोड़ने के बाद मथा शरीर धारण करने से पहले (विप्रहृणति में) जीव का आकार पूर्व शरीर के समान बनाये रखता है और उसका उदय जुङु और बङ्ग दीनों मतियों में होता है।

कीर्ति, अयशःकीर्ति, लीर्थकरनाम, उच्छवासनाम, भीचगोत्र, उच्छगोत्र, ये छियत्तर (७६) प्रकृतियां जीवविषाक्ती हैं। क्योंकि ये प्रकृतियां जीव में ही अपना विषाक्त दिखलाती हैं, अन्यत्र नहीं।

इन प्रकृतियों को जीवविषाक्ती मानने का कारण इस प्रकार जानना चाहिए—

ज्ञानावरण की पांचों प्रकृतियां जीव के ज्ञानगुण का धारण करती हैं। दर्शनावरण की नीं प्रकृतियां आत्मा के दर्शनगुण को, मिथ्यात्म-मोहनीय सम्यवत्व को, चारित्रमोहनीय की प्रकृतियां चारित्रगुण को और दानात्मराय आदि अन्तरायकर्म की पांचों प्रकृतियां दानादि लभित्रियों को धारणती हैं। साता-असाता वेदनीय सुख, दुःख को उत्पन्न करती हैं, जिसके कारण आत्मा सुखी या दुखी कहलाती है और गति-चतुष्क आदि नामकर्म की प्रकृतियां जीव की गति, जाति आदि विविध फलियों को उत्पन्न करती हैं। इसलिए ये सभी प्रकृतियां जीवविषाक्ती कहलाती हैं।

**प्रश्न**—भवविषाक्ती आदि सभी प्रकृतियां वस्तुतः विचार करने पर तो जीवविषाक्ती ही हैं। क्योंकि आयुकर्म की सभी प्रकृतियां अपने-अपने योग्य भव में विषाक्त दिखलाती हैं किन्तु तत्त्व भव जीव ही धारण करता है, अन्य कोई नहीं। इसी प्रकार चारों आनुपूर्वी भी विग्रहणति रूप क्षेत्र में विषाक्त को दिखलाती हुई जीव के अनुश्रेणि ग्रस्त विषयक स्वभाव को धारण करती हैं तथा उदय को प्राप्त हुई आलपनाम, संस्थाननाम, आदि पुद्गलविषाक्ती प्रकृतियां भी उस-उस प्रकार की शक्ति जीव में ही उत्पन्न करती हैं कि जिसके द्वारा वह जीव उसी प्रकार के पुद्गलों को ग्रहण करता है और ग्रहण किये हुए पुद्गलों की उस-उस प्रकार की रक्षना करता है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि इन सभी प्रकृतियों को जीवविषाक्ती ही मानना चाहिए।

**उत्तर**—उक्त तक सत्य है और वस्तुस्थिति भी इसी प्रकार की है कि सभी प्रकृतियां जीवविषाक्ती ही हैं। जीव के बिना दूसरा कोई

विपाक-फल का अनुभव करता ही नहीं है। किन्तु यहाँ भव आदि की प्रवानता की विविधा से भव आदि का व्यपदेश किया है। अर्थात् भवादि के माध्यम से उन-उन प्रकृतियों के फल को जीव अनुभव करता है, अतः भवादि की मुख्यता होने से उन-उन प्रकृतियों की भव-विपाकी आदि तथाप्रकार की संज्ञा है। इसलिए हसमें कोई दोष नहीं है। विशेष स्पष्टीकरण ग्रन्थकार आचार्य स्वर्य आगे करने वाले हैं।

इस प्रकार से विपाकापेक्षा प्रकृतियों का वर्गीकरण करने के पश्चात् अब यह स्पष्ट करते हैं कि पुद्दमलविपाकी प्रकृतियों के विवेचन के प्रसंग में जो यह बतलाया था कि इनमें औदयिक भाव होता है तो अन्य प्रकृतियों में कौन-कौन से भाव सम्भव हैं।

### प्रकृतियों के सम्भव भाव

मोहसेव उवसमो खाओवसमो चउण्ह धाइर्ण ।

खयपरिणामियउदया अटुण्ह वि होंति कम्माण ॥२५॥

**शब्दार्थ**—मोहसेव—मोहनीयकर्म का ही, उवसमो—उपशम, खाओवसमो—क्षयोपशम, चउण्ह—चारों, धाइर्ण—धातिकर्मों का, खय—क्षय (क्षायिक), परिणामिय—परिणामिक, उदया—उदय (औदयिक), अटुण्ह—आठों, वि—भी, होंति—होते हैं, कम्माण—कर्मों के।

**गाथार्थ**—उपशम मोहनीयकर्म का ही तथा क्षयोपशम चारों आति कर्मों का होता है। क्षयिक, परिणामिक और औदयिक भाव आठों कर्मों में प्राप्त होते हैं।

**विशेषार्थ**—गाथा में आठों कर्मों में प्राप्त भावों का निर्देश किया है। ये भाव पांच हैं—ओपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षयिक, परिणामिक और औदयिक। इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

**ओपशमिकभाव**—प्रदेश और विपाक दोनों प्रकार से कर्मोदय का

रुक्ष जाना उपशम है<sup>१</sup> और उपशम से होने वाले भाव को आयोग्यमिक भाव कहते हैं। अथवा आत्मा में कर्म की निज शक्ति का कारणवश प्रगट न होना उपशम है प्रयोजन-कारण जिसका उसे आयोग्यमिक भाव कहते हैं।<sup>२</sup>

**पारिणामिक अर्थ—** दद्यावलिका में प्रतिष्ठित अमृत के क्षय और उदयावलिका में अप्रविष्ट अंश के विपाकोदय को रौकने स्वरूप उपशम के द्वारा होने वाले जीवस्वभाव के क्षायोपशमिकभाव कहते हैं।<sup>३</sup>

**कायिक—** क्षय अर्थात् आत्मनितक निवृत्ति यानी सर्वधा नाश होने को क्षय कहते हैं और क्षय को ही कायिक भाव कहते हैं। अर्थात् कर्मों के आत्मनितक क्षय से प्रगट होने वाला भाव कायिक भाव है।<sup>४</sup> अथवा कर्मों के क्षय होने पर उत्पन्न होने वाला भाव कायिक है।<sup>५</sup>

**पारिणामिक भाव—** परिणमित होना अर्थात् अपने मूल स्वरूप का त्याग न करके अन्य स्वरूप को प्राप्त होना परिणाम कहलाता है और परिणाम को ही पारिणामिक कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जीव प्रदेशों के सम्बन्ध संबद्ध होकर अपने स्वरूप को छोड़ दिना यानी और

१ उपशमो विपाकप्रदेशस्यतथा विविवत्याप्युदयस्स विष्णुभृणं, उपशमः प्रयोजनमस्येत्यीयशमिकः।

२ आत्मनि कर्मणः स्वशक्तेः कारणवशाद्गुद्भूतिउपशमः, उपशमः प्रयोजन-स्येत्यीयशमिकः। —स. सि. २/१/१४६/६

३ उदयावलिकाप्रविष्टस्यांशस्य अर्थण, अनुदयावलिकाप्रविष्टस्योपशमेन विपाकोदयनिरोधजश्चणेन विवृतः क्षायोपशमिकः।

—पंचांशग्रह मलय, दीका पृ. १२६

४ क्षय आत्मनितकोऽस्तेदः। —पंचांशग्रह मलय, दीका पृ. १२६

५ कर्माणं खण्ड जातो खद्यो। —शब्दला ५/१,७,१०/२०६/२

द्रुक्ष की तरह मिश्रित होना—एकाकार हो जाना अथवा तत्त्व प्रकार के द्रव्य, शेत्र, काल और अव्यवसाय की अपेक्षा से उस-उस प्रकार से संक्रमादि रूप में जो परिणमन वह पारिणामिकभाव कहलाता है।

**औदयिकभाव**—कर्म के उदय से होने वाले भाव को औदयिकभाव कहते हैं और कर्मप्रकृतियों के शुभाशुभ विषाक का अनुभव करना उदय है।

उक्त पांचों भावों की व्याख्या करने के बाद अब प्रत्येक कर्म में प्राप्त भावों को बतलाते हैं—

‘मोहस्सेव उवसमो’ अर्थात् ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों में से मोहनीयकर्म में ही उपराज रात्र प्राप्त होते हैं, और दूसरे इन्होंने नहीं। क्योंकि मोहनीयकर्म का सर्वेता उपशम होने से जैसे उपशम-भाव का सम्यक्त्व और उपशमभाव रूप यथाख्यातारिक होता है, उसी प्रकार से ज्ञानावरणादि कर्मों का उपशम होने से तथारूप केवलज्ञान आदि गुण उत्पन्न ही नहीं होते हैं। उपशम के दो प्रकार हैं—देशोपशम और सर्वोपशम। उनमें से यहाँ उपशम शब्द से सर्वोपशम की विवक्षा समझना चाहिये, देशोपशम की नहीं। क्योंकि देशोपशम तो आठों कर्मों का होता है, जो कार्यकारी नहीं है।

‘ताओवशमो चउप्ह धाईण’ अर्थात् क्षायोपशमिकभाव जारी धातिकर्मों—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—में पाया जाता है, शेष अधातिकर्मों में नहीं। क्योंकि धातिकर्म आत्मा के ज्ञानादि गुणों का घात करते हैं, अतः उनका यथायोग्य रीति से सर्वोपशम या क्षयोपशम होने पर ज्ञानादि गुण प्रगट होते हैं। किन्तु अधातिकर्म आत्मा के किसी भी गुण का घात नहीं करते हैं, जिससे उनका सर्वोपशम अथवा क्षयोपशम भी नहीं होता है। तथा धातिकर्मों में भी केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण के रसोदय को रोकने का अभाव होने से, इन दो प्रकृतियों के सिवाय शेष धातिप्रकृतियों का समझना चाहिये।

उक्त दोनों भावों से शेष रहे क्षायिक, पारिणामिक और औदयिक ये तीनों भाव आठों कर्मों में पाये जाते हैं। जो इस प्रकार हैं—

मोहनीयकर्म का सर्वथा क्षय सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के चरम समय में, शेष तीन धातिकर्मों का क्षय क्षीणकषायगुणस्थान के चरम समय में और अधाति कर्मों का अयोग्यिकेष्वलीशुणस्थान के चरम समय में आत्यन्तिक उच्छेद—सर्वथा लाश होने से क्षायिक भाव आठों कर्मों में पाया जाता है।

आठों कर्मों में पारिणामिक भाव इसलिए पाया जाता है कि आत्मप्रदेशों के साथ पाती और दृष्टि की तरह एकाकार रूप से परिणमित होकर विद्यमान हैं और औदयिकभाव तो सुप्रतीत ही है। क्योंकि सभी संसारी जीवों में आठों कर्मों का उदय दिखता है।

कर्मों में सम्भव भाव की प्राप्ति के उक्त समग्र कथन का सारांश यह है कि मोहनीयकर्म में औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, पारिणामिक और औदयिक ये पाँचों भाव सम्भव हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन धातिकर्मों में औपशमिकभाव के बिना शेष चार भाव और वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार अधातिकर्मों में क्षायिक, पारिणामिक और औदयिक ये तीन भाव ही संभव हैं।

सरलता से समझने के लिए जिनका प्रारूप इस प्रकार है—

क्रम	कर्मप्रकृति नाम	प्राप्त भाव	कुल भाव
१	मोहनीय	औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, पारिणामिक, औदयिक	पाँच
२	ज्ञानावरण	क्षायोपशमिक, क्षायिक, पारिणामिक, औदयिक	चार

क्रम	कर्मप्रकृति नाम	सम्भव भाव	कुल भाव
३	दर्शनावरण	आयो, क्षायिक, परिणामी, औद्योगिक	चार
४	बन्तराय	" " " "	चार
५	वेदनीय	क्षायिक, पारिणामिक, औद्योगिक	तीन
६	आयु	" " "	तीन
७	नाम	" " "	तीन
८	गोत्र	" " "	तीन

इस प्रकार से आठों मूलकसों में सम्भव भाव जानना चाहिये । अब इन भावों के सदृश्व से उत्पन्न होने वाले गुणों का निरूपण करते हैं ।

आवों के सदृश्व से अन्य गुण

सम्मताद् उवसमे खाओवसमे गुणा चरित्ताई ।

खद्दए केवलभाद् तव्ववएसो उ उद्दईए ॥२६॥

**शब्दार्थ—**सम्मताद्—सम्यक्त्व आदि, उवसमे—उपशम होने से, खाओवसमे—क्षयोपशम होने से, गुणा—गुण, चरित्ताई—चारित्रादि, खद्दए—क्षय होने से, केवलभाद्—केवलज्ञान आदि, तव्ववएसो—तत् (वह) व्यपदेश, उ—और, उद्दईए—औद्योगिक भाव में ।

**गाथार्थ—**उपशम होने से सम्यक्त्व आदि गुण, क्षयोपशम होने से चारित्र आदि गुण और क्षय होने से केवलज्ञानादि गुण प्रगट होते हैं तथा उवध होने से तत्-व्यपदेश अर्थात् औद्योगिक व्यपदेश होता है ।

**विशेषार्थ—**गाथा में उपशम, क्षयोपशम, क्षय और उदय की अपेक्षा उत्पन्न होने वाले गुणों को वर्णलाया है।

सर्वप्रथम उपशम के होने पर प्राप्त गुण का निर्देश करते हुए कहा है कि—‘समत्ताइ उक्समे’ अर्थात् भौहनीयकर्म का जब सर्वथा उपशम होता है तब औपशमिकभाव का सम्यक्त्व तथा आदि शब्द से औपशमिकभाव का पूर्ण—यथास्यातरूप चारित्र, यह दो गुण होते हैं<sup>१</sup> और जब ‘खाओवसमे’ धातिकर्मों का क्षयोपशम होता है तब ‘चरित्ताई’ चारित्र आदि गुण प्रगट होते हैं। विशेषता के साथ जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

केवलज्ञान के क्षायिकभाव रूप होने से उसके सिवाय शेष रहे मति, श्रुति, अवधि और मनपर्याय ये चार ज्ञान, मति-अज्ञान, श्रुति-अज्ञान और विभंगज्ञान ये तीन अज्ञान तथा केवलदर्शन क्षायिकभाव रूप होने से उसके बिना चक्षु, अचक्षु और अवधि ये तीन दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और कीर्य ये पांच लब्धियाँ, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, देशविरतिचारित्र और (सामाधिक, छेदोपस्थापनीय, परिहार-विद्युदि और सूक्ष्मसंपरायरूप) सर्वविरति चारित्र यह अठारह गुण प्रगट होते हैं<sup>२</sup>

**प्रश्न—**ज्ञान आत्मा का मूल गुण होने से गाथा में ज्ञानादि गुणों की बजाय ‘गुण चरित्ताई’ चारित्र आदि गुणों का निर्देश किया है ?

**उत्तर—**सम्यक्त्व की बजाय चारित्र का निर्देश करने का कारण यह है कि चारित्र गुण जब प्रगट होता है तब ज्ञान और दर्शन गुण

१ सम्यक्त्वचारित्रे ।

—तत्त्वार्थसूत्र २।३

२ ज्ञानज्ञानदर्शनदामादिलक्ष्यइच्छुस्तिविषयचेदाः क्षायोपशम-चारित्रसंपरायमाद्य ।

पश्चात्कर्म सम्यक्त्व-

—तत्त्वार्थसूत्र २।५

अवक्षय होते ही हैं। इसी का ज्ञापन कराने के लिये गाया में आरित्रगुण का उल्लेख किया है। अर्थात् सम्यदर्शीन और सम्यज्ञाने के सद्भाव में ही चारित्र सम्यक्चारित्र कहलाता है। जिससे चारित्र के ग्रहण से उनका भी ग्रहण कर लिया गया समझना चाहिये।

‘खहरे फैथलादामु’ अर्थात् आधिकाराद के प्रबत्तमान होने पर केवलादि अर्थात् केवलज्ञान, केवलदर्शीन, क्षायिक सम्यक्स्व, यथारूपात् चारित्र और दानादि पांच लक्ष्मि, ये नी गुण उत्पन्न होते हैं।<sup>१</sup> उनमें से ज्ञानावरण का सर्वथा क्षय होने से केवलज्ञान, दर्शनावरण का सर्वथा क्षय होने से केवलदर्शीन, मोहनीयकर्म का क्षय होने से क्षायिक सम्यक्स्व और यथारूपातचारित्र तथा अन्तरायकर्म का क्षय होने से सम्पूर्ण दान, जाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पांच लक्ष्मियाँ प्रगट होती हैं<sup>२</sup> और निःशेष रूप से कर्मक्षय होने पर परम निश्चेयम् रूप भोक्त्र प्राप्त होता है।<sup>३</sup>

‘तद्ववाएसो उ उदईए’ अर्थात् औद्यिक भाव के प्रबत्तित होने पर उस कर्म के उदयानुसार जीव का व्यपदेश होता है यानी कहलाता है। जैसे कि प्रबल ज्ञानावरण के उदय से अज्ञानी, प्रबल दर्शनावरण के उदय में अन्धा, बधिर, मूक इत्यादि किसी भी एक अंग से चेतना रहित

१ सम्यक्तदत्तचारित्रे । ज्ञानदर्शनदानलभभीयोपभोगदीर्घाणि च ।

—तत्त्वार्थसूत्र २१३,५

२ क्षायिक भावजन्य तौ भेदों की प्राप्ति सिद्धों में इस प्रकार से समझना चाहिए—

केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण का निःशेष रूपेण क्षय होने से केवलज्ञान और केवलदर्शीन, मोहनीय और अनन्तानुबंधी कर्माय के क्षय से अन्य आत्मिक गुणरूप क्षायिक सम्यदर्शीन, आरित्रमोहनीय कर्म के क्षय से अन्य स्वरूपारमणता रूप चारित्र एवं अन्तरायकर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाली आत्मिक गुणरूप दानादि लक्ष्मियाँ सिद्धों में पाई जाती हैं।

३ कृत्स्नकर्मक्षयो भोक्तः ।

—तत्त्वार्थ सूत्र १०।३

इत्यादि, वेदनीयकर्मी के उदय से सुखी-दुखी, क्रोधादि के उदय से क्रोधी, मानी, सायाची, लोभी इत्यादि, नामकर्मी के उदय से मनुष्य, वेष, एकेन्द्रिय, द्वांन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय, पञ्चन्द्रिय, अस, वादर, पश्चिम इत्यादि, उच्चाश्रोत्र के उदय से यह क्षत्रिय-पुत्र है, यह सेठपुत्र है इत्यादि प्रकाशसूचक और नीचमोत्र के उदय में यह वेष्यापुत्र है, यह चांडाल है इत्यादि रूप से निन्दनीय व्यष्टिदेश होता है और अन्तरायकर्मी के उदय से कृषण, अलाभी, अभोगी इत्यादि अनेकरूप से जीव का व्यष्टिदेश होता है। इसलिये यथारूप कर्मी के उदय अनुसार जीव का वह व्यष्टिदेश होता है—कहलाता है।<sup>1</sup>

इस प्रकार के उपशम आदि चार भावों से उत्पन्न गुणों को बतलाने के पश्चात् अब शेष रहे पारिणामिक भाव के सम्बन्ध में विशेषता के साथ प्रतिपादन करते हैं—

नाणंतरायदंसणवेयणियाणं तु भंगया दोधि ।

साइसपञ्जवसाणोवि होइ सेसाण परिणामो ॥२७॥

**शब्दार्थ—** नाणंतरायदंसणवेयणियाणं—ज्ञानावरण, अंतराय, दर्शनावरण और वेदनीय के, तु—और, भंगया—भंग, दोधि—दो, साइ—सादि, सपञ्ज-वसाणो—सपर्यवसान-सांत, वि—भी, होइ—होते हैं, सेसाण—शेष कर्मों के, परिणामो—पारिणामिक भाव में।

**शास्त्रार्थ—** ज्ञानावरण, अंतराय, दर्शनावरण और वेदनीय में दो भंग होते हैं, और शेष कर्मों में सादि-सपर्यवसान भंग भी होते हैं।

**विशेषार्थ—** पारिणामिक भाव का लक्षण पूर्व में बतला जुके हैं कि वह भाव कर्मों के उदय, उपशम, क्षय आदि की अपेक्षा न रखते हुए सहज स्वभावजन्य है। अतः सादि-अनादि भंगों की अपेक्षा विचार

१. औद्यिक भाव के २१ भेद हैं—

गतिकाषायलिगमिध्यादर्शनाऽज्ञानाऽसंयताऽसिद्धत्वस्त्वयाऽप्यतु रस्तु शश्येकीकृति-काषड्भेदाः । —तत्त्वार्थं पूर्वं २।६

किया जाना संभव होने से उन्हीं भर्गों का विचार करते हैं कि ज्ञाना-वरण, अतराय, दर्शनावरण और वेदनीय इस चार कर्मों में प्रवाह क्रम से सामान्यतः अनादि-अनन्त और अनादि-सांत यह दो भर्ग संभव हैं। इसमें से भव्य की अपेक्षा अनादि-सांत भर्ग होता है। कथोंकि जीव और कर्म का प्रवाह की अपेक्षा अनादि काल से सम्बन्ध है। अतः आदि का अधार होने से अनादि और मुक्तिगमन के समय कर्मविनाश का नाश होने से कात है। इस प्रकार से भव्य के अनादि-सांत भर्ग घटित होता है और अभव्य की अपेक्षा अनादि-अनन्त। इसमें अनादि विषयक कथन तो भव्यापेक्षा किये गये विचार की तरह यहाँ भी समझ लेना चाहिये और उसे किसी भी समय कर्मसम्बन्ध का नाश होने वाला नहीं होने से अनंत है। इस प्रकार से अभव्यापेक्षा अनादि-अनन्त भर्ग घटित होता है। अथवा ज्ञानावरण आदि चार कर्मों में भव्यानवद्यापेक्षा अनादि-सांत और अनादि-अनन्त यह दो भर्ग समझना चाहिए। लेकिन उपर्युक्त चार कर्मों में किसी भी अपेक्षा सादि-सांत भर्ग संभव नहीं है। कथोंकि इन चारों कर्मों में से किसी भी कर्म की अथवा इनकी किसी भी उत्तरप्रकृति की सत्ता का विच्छेद होने के पश्चात् पुनः सत्ता नहीं होती है।

ज्ञानावरणादि उक्त चार कर्मों से शेष रहे मोहनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार वार्मों का पारिणामिक भाव सादि-सांत भी होता है—‘साइसपञ्जवसाणोवि’। लेकिन यहाँ इसना समझना चाहिए कि यह सादि-सांतरूप तीसरा भर्ग मोहनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म की कुछ एक उत्तरप्रकृतियों के आश्रय से सम्भव है और कितनी ही प्रकृतियों की अपेक्षा तो पूर्वोक्त अनादि-अनन्त और अनादि-सांत यह दो भर्ग घटित होते हैं।

उक्त कथन का सारांश है कि उत्तरप्रकृतियों की अपेक्षा मोहनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार कर्मों में अनादि-अनन्त, अनादि-सांत

और सादि-सांत यह तीन भंग होते हैं। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

जिन प्रकृतियों की सत्ता न हो और पुनः सत्ता में प्राप्त हो, अर्थात् जो प्रकृति सत्ता का नाश होने के पश्चात् पुनः उनकी सत्ता हो तो उनमें सादि-सान्तरूप वैद्य घटित होता है और उनसे शेष रही अव्यय प्रकृतियों में अनादि-अनन्त और अनादि-सांत ये दो भंग होते हैं और ये दोनों भंग पूर्व में कहे गये अभ्यय और अव्यय की अपेक्षा जानना चाहिए।

अब जिन कतिपय उत्तरप्रकृतियों में सादि-सांतरूप तोसरा भंग भी सम्भव है, उन उत्तरप्रकृतियों को बतलाते हैं—

उपरामसम्यकत्व की जब प्राप्ति होती है तब सम्यकत्व और सम्यग्-मिथ्यात्म मोहनीय इन दो प्रकृतियों की सत्ता सम्भव है। पञ्चमिद्य की प्राप्ति होने पर वैक्लियवट्क की, सम्यकत्व की प्राप्ति होने पर तीर्थकरनाम की, संयम की प्राप्ति होने पर आहारकद्विक की सत्ता सम्भव है। इसलिए इन प्रकृतियों में सादि-सांत यह भंग घटित होता तथा अनन्तानुबंधीकषाय, मनुष्यद्विक, उच्चगोत्र आदि उद्वलन योग्य प्रकृतियों की उद्वलना<sup>१</sup> होने के पश्चात् पुनः उनका बंध सम्भव होने से वे सत्ता को प्राप्त कर लेती हैं। इसलिए उनमें सादि-सांत भंग घटित होता है। आयुकर्म की प्रकृतियों में तो उन-उनके अनुक्रम से सत्ता में प्राप्त होने से सादि-सांत भंग स्पष्ट ही है। इस प्रकार उपर्युक्त प्रकृतियों में ही सादि-सांत भंग घटित होता है। लेकिन अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि, औदारिक आदि शरीर और नीच-

१ जिस प्रकृति का बंध किया हो, वीक्षे परिणामविशेष से भागाहार के द्वारा अप्रस्तृ करके उसको अन्य प्रकृतिरूप परिणाम के नाश कर देने को (उदय में आने देने के पूर्व नाश कर देने की) उद्वलना कहते हैं। उद्वलनायोग्य प्रकृतियों नाम आगे बतलाये हैं।

गोत्र रूप प्रकृतियाँ जो कि सत्ता का नाश होने के पश्चात् पुनः सत्ता को प्राप्त नहीं करती है, उन प्रकृतियों में भव्य के अनादि-सांत और अभव्य के अनादि-अनन्त यहीं दो भंग घटित होते हैं।

यह कथन मोहनीय आदि चार कर्मों की उत्तरप्रकृतियों की अपेक्षा समझना चाहिए कि कृतिपय प्रकृतियों में सादि-सांत भंग सम्भव है। लेकिन मूल कर्मों की इष्टि से प्रत्येक का विचार किया जाये तो अनादि-अनन्त और अनादि-सांत यहीं दो भंग सम्भव हैं। क्योंकि मूल कर्मप्रकृतियों की सत्ता का नाश होने के पश्चात् पुनः वे सत्ता को प्राप्त करती ही नहीं हैं।

इस प्रकार से धार्योपशमिक आदि पांच भावों का विचार करने के पश्चात् अब क्षयोपशम की स्वरूप व्याख्या के सम्बद्ध में जिज्ञासु द्वारा प्रस्तुत आशंका का समाधान करते हैं।

### प्रकृतियों के उदय में क्षयोपशमभाव की सम्भावना

उदये छिव्य अविरुद्धो खाओवसमो अणेमभोति ।

जह भवति तिष्ठ एसो पएसउदयमि मोहस्स ॥२८॥

**शब्दार्थ**—उदये—उदय रहते, छिव्य—भी, अविरुद्धो—विरोध नहीं है, खाओवसमो—क्षयोपशमिक भाव, अणेमभोति—अनेक सेव वाला है, जह—यह, भवति—होता है, तिष्ठ—तीन, एसो—यह, पएस—प्रदेश, उदयमि—उदय में, मोहस्स—मोहनीयकर्म के।

**गाथार्थ**—उदय के होने पर भी क्षयोपशमिक भाव के होने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। क्योंकि वह अनेक प्रकार का होता है। उदय के होते जो क्षयोपशमिक भाव होता है, वह तीन कर्मों में ही होता है किन्तु मोहनीयकर्म में प्रदेशोदय के होने पर ही क्षयोपशमिक भाव होता है।

**विशेषार्थ**—ग्रन्थकार वाचार्थ ने गाथा में जिस प्रश्न का समाधान किया है, पूर्व पक्ष के रूप में वह इस प्रकार है—

**प्रश्न**—कर्मों का क्षयोपशम उभका उदय हो तब होता है अथवा उदय न हो तब होता है ? यदि यह कहो कि उदय हो तब होता है तो उसमें विरोध आता है । वह इस प्रकार—क्षयोपशमिक भाव उदयावलिका में प्रचिष्ट अंडा का क्षय होने से और उदय-अप्राप्त अंडा के विपाकोदय को रोकने रूप उपशम होने से उत्पन्न होता है, अन्यथा उत्पन्न नहीं होता है । इसलिए यदि उदय हो तो क्षयोपशम कैसे हो सकता है ? और यदि क्षयोपशम हो ले उदय कैसे हो सकता है ? अब यदि यह कहो कि अनुदय यानी कर्म का उदय न हो लब क्षयोपशम होता है तो यह कथन भी अयुक्त है । क्योंकि उदय का अभाव होने से ही ज्ञानादि गुणों के प्राप्त होने रूप इष्ट फल सिद्ध होता है । उदय-प्राप्त कर्म ही आत्मा के गुणों का बात करते हैं, परन्तु जितका उदय नहीं है वे किसी भी गुण के रोधक नहीं होते हैं, तो फिर क्षयोपशम होने में विशेष क्या हुआ ? यतिज्ञानादि गुण प्राप्त होंगे तो फिर क्षयोपशमिक भाव की कल्पना किसलिए करना चाहिये ? क्षयोपशमिक भाव की कल्पना ही व्यर्थ है ।

आचार्य इस पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं—

**उत्तर**—‘उदये चित्तय अविसद्गो खावोपसमो’—अर्थात् जब उदय हो लब क्षयोपशमिक भाव होता है, इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है । इसीलिये तो कहा है—उदय रहते अनेक भेद—प्रकार का क्षयोपशम होता है । यदि उदय रहते क्षयोपशमिक भाव प्रवर्तित हो तो वह तीन कर्मों में ही होता है और मोहनीयकर्म में प्रदेशोदय होने पर ही क्षयोपशमिक भाव होता है । विशेषता के साथ जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

ज्ञानावरण आदि कर्मों का जब तक क्षय न हो, तब तक वे छुके-रहती हैं, जिससे उनका उदय रहते ही क्षयोपशम घटित होता है किन्तु अनुदय में नहीं । इसका कारण यह है कि उदय के अभाव में वे ज्ञाना-

वृंदावन-प्रकृत्या सम्भव नहीं हैं। इसलिये उदय होने पर ही क्षयोपशमिक भाव होता है, इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है तथा पूर्व में 'यदि उदय हो तो क्षयोपशम कैसे हो सकता है' इस प्रकार जो विरोध उपस्थित किया था, वह भी अयोग्य है। इसका कारण यह है—

देशधाति स्पर्धकों का उदय होने पर भी कितने ही देशधाति स्पर्धकों की अपेक्षा से क्षयोपशम होने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। वह क्षयोपशम उस-उस प्रकार की दृष्टि, धोत्र और काल आदि सामग्री के वश से विचित्र प्रकार का सम्भव होने से अलेक प्रकार का है—'अणगभेओति', तथा उदय के रहते यदि क्षयोपशमिक भाव होता है तो वह सभी कर्मों का नहीं किन्तु ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मों का ही होता है—'जड़ भवति तिष्ठ एसो'।

**प्रश्न**—उक्त कथन का यही तो आशय हुआ कि तीन कर्मों का क्षयोपशम होता है तो फिर मोहनीयकर्म का क्षयोपशम कैसे होता है ?

**उत्तर**—'एस उदयति मोहस्स' अर्थात् मोहनीयकर्म का क्षयोपशम होता है। किन्तु उसकी इतनी विशेषता है कि मोहनीयकर्म का प्रदेशोदय हो तभी क्षयोपशम होता है किन्तु रसोदय के रहते नहीं होता है। क्योंकि अनन्तानुवधि आदि प्रकृतियों सर्वधाति हैं और सर्वधाति प्रकृतियों के सभी रसस्पर्धक<sup>1</sup> सर्वधाति ही होते हैं, देशधाति नहीं। सर्वधाति रसस्पर्धक स्वधात्यग्रुण का समग्ररूप से धात करते हैं, देश से नहीं। जिससे उनके विपाकोदय में क्षयोपशम सम्भव नहीं है, किन्तु प्रदेशोदय के होने पर क्षयोपशम सम्भव है।

**प्रश्न**—प्रदेशोदय होते हुए भी क्षयोपशम भाव कैसे हो सकता

१ अविमाग प्रतिष्ठेदों की राशि को वर्ग, समानग्रुण और समसंबंधा वाले सर्व प्रदेशों की वर्गराशि की वर्णण और वर्णणओं के समुदाय के स्पर्धक कहते हैं।

है ? क्योंकि सर्वधातिस्पर्धकों के दलिक देशधार्मगुण को सर्वधा  
त्रकार से घात करने के स्वभाव वाले होते हैं।

उत्तर—यह कथन योग्य नहीं है। क्योंकि सर्वधातिस्पर्धकों के  
दलिकों को तथाप्रकार से शुद्ध अध्यवसाय के खल से कुछ अल्प शक्ति  
वाला करके विरल-विरलतया वेदमान देशधाति रसस्पर्धकों में स्थित्युक-  
संक्रम<sup>१</sup> के छारा संकरित किये जाने से जितनी उनमें फल देने की  
शक्ति है, उसे प्रगट करने में समर्थ नहीं होते हैं, अर्थात् रसोदय हो  
किए जितना फल दे सकें, उतना फल देने में समर्थ नहीं होते हैं,  
जिससे वे स्पर्धक क्षयोपशम का घात करने वाले नहीं होते हैं। इस-  
लिए मोहनीय कर्म का प्रदेशोदय होने पर भी क्षयोपशम भाव का  
विरोधी नहीं है। तथा—

‘अणेग भेओत्ति’ इस पद्यात ‘इति’ शब्द अधिक अर्थ का सूचक होने  
से यह विशेष समझना चाहिए कि आदि की बारह कथाय और  
मिथ्यात्वमोहनीय रहित शेष मोहनीय प्रकृतियों का प्रदेशोदय अथवा  
विपाकोदय होने पर भी क्षयोपशम होता है, इसमें कुछ भी विरोध  
नहीं हैं। क्योंकि सञ्ज्ञलन आदि मोहनीय की प्रकृतियाँ देशधाति हैं  
और उसमें भी यह विशेष है कि सर्वधाति प्रकृतियों के अतिरिक्त शेष  
मोहनीयकर्म की प्रकृतियाँ अध्यवोदय हैं। जिससे विपाकोदय के  
अभाव में क्षयोपशमिक भाव होने पर और प्रदेशोदय सम्भव होने पर  
भी वे प्रकृतियाँ अल्पमात्रा में भी देशधाति नहीं होती हैं किन्तु जब  
विपाकोदय हो तब क्षयोपशमिक भाव होते भी कुछ मनिनला करने  
वाली होने से देशधाति होती है, गुण के एकदेश का घात करने वाली  
होती है।

उत्तर कथन का सारांश यह है कि देशधाति प्रकृतियों के उदय  
रहते भी क्षयोपशम हो सकता है और सर्वधाति प्रकृतियों के उदय में

१ अनुदीर्ण प्रकृति के दलिकों को समान स्थिति वाली उदय-प्राप्त प्रकृति में  
संकरित करके अनुभव किये जाने को स्थित्युकसंक्रम कहते हैं।

नहीं परत्तु प्रवेशोदय के समय क्षयोपशम<sup>१</sup> हो सकता है। इन प्रकृतियों में केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण का तो क्षयोपशम होता ही नहीं है। क्योंकि वे क्षायिकभाव वाली हैं सथा देशधाति प्रकृतियों में भी अब उनका रसोदय हो तभी वे गुण का घात करने वाली होती हैं,

१ क्षयोपशम का अर्थ है उदयप्राप्त कर्मपुद्यग्लों का क्षय और उदय अप्राप्त पुद्यग्लों को उपशमित करना। यहीं स्पष्टम के दो अर्थ हो सकते हैं—१ उदयप्राप्त कर्मपुद्यग्लों का क्षय और सत्तागत दलिकों की अव्यवसायानुसार हीनशक्ति वाला करने स्वरूप से फल न दें, ऐसी स्थिति में स्थापित करना। यहला अर्थ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कमीं में घटित होता है। उनके उदय-प्राप्त दलिकों का क्षय और सत्तागत दलिकों को परिणामानुसार हीन शक्ति वाला करके उनको स्वरूप से अनुभव करता है। स्वरूप से अनुभव करने पर भी शक्ति के हीन किये जाने से वे गुण के विचारक नहीं होते हैं। जिस प्रमाण में शक्ति है, उदनुसार गुण को आधृत करते हैं और जिसने प्रमाण में शक्ति मूल की, उदनुरूप गुण प्रगट होता है।

मीहनीयकर्म में दूसरा अर्थ घटित होता है। उसके उदयप्राप्त दलिकों का क्षय कर सत्तागत दलिकों में से परिणामानुसार हीनशक्ति वाला करके ऐसी स्थिति में स्थापित कर देता है कि जिसमें उनका स्वरूपसः उदय नहीं होता है। जैसे कि विष्वास्त्र और अनन्तानुवंशी आदि बारह क्षयार्थों के उदयप्राप्त दलिकों का क्षय करके सत्तागत दलिकों को हीनशक्ति वाला करके ऐसी स्थिति में स्थापित कर दिया जाता है कि उनका स्वरूप से उदय नहीं होता है तब सम्बन्धादि गुण प्रगट होते हैं। अब तक इन प्रकृतियों का रसोदय हो सके तक स्वरूपर्व गुण प्रगट नहीं होने देता है। क्योंकि वे प्रकृतियाँ सर्वधाति हैं और मीहनीय कर्म की देशधाति प्रकृतियों में पहला अर्थ घटित होता है।

प्रदेशोदय हो तब नहीं और सर्वधार्मा प्रकृतियों का प्रदेशोदय भी कुछ न कुछ अंग में विश्वास करने वाला होता है।

पूर्वधार्मा में सर्वधार्मातिरस्यधर्मों का उदय इत्यादि रूप से जो औदयिक भाव का संकेत किया गया है वह औदयिक भाव प्रकृतियों में दो प्रकार से होता है—शुद्ध और कार्यपश्चात्यभिक भावयुक्त। अतः अब इनका स्वरूप स्पष्ट करने के लिए वहले स्थर्मों का विचार करते हैं।

### देश-सर्वधार्मा स्पर्धक

**चउतिद्वाणरसाइं सब्बधाईणि होति फहुाइं।**

**दुट्ठाणियाणि मोसाणि देसधाईणि सेसाणि ॥२८॥**

**शास्त्रार्थ—** अउलिद्वाणरसाइ—चतुः और त्रि स्थानक रस वाले, सर्वधाईणि—सर्वधार्मा, होते हैं, फहुाइं—साधक, दुट्ठाणियाणि—द्विस्थानक रस वाले, मोसाणि—मिथ, देसधाईणि—देशधार्मा, सेसाणि—शेष।

**गायार्थ—** चतुःस्थानक और त्रिस्थानक रस वाले सभी स्पर्धक सर्वधार्मा होते हैं, द्विस्थानक रस वाले मिथ और शेष स्पर्धक देशधार्मा हैं।

**विद्योदार्थ—** यद्यपि ग्रन्थकार आचार्य स्वर्य चंद्रनकरण अधिकार में रसस्पर्धकों का स्वरूप विस्तार से वर्तलाने वाले हैं, लेकिन प्रासादिक होने से यहाँ भी संक्षेप में उनका उल्लेख करते हैं कि वे स्पर्धक तीव्र, मन्द आदि रस के भेद से चार प्रकार के हैं—एकस्थानक, द्विस्थानक, त्रिस्थानक, और चतुःस्थानक।<sup>१</sup>

१ कर्मवर्गणाओं में कथायोदयजन्य अऽयक्षायों द्वारा उत्पन्न ज्ञानादि गुणों के अन्वेत करने और मुख-नुखादि उत्पन्न करने की शक्ति को रस कहते हैं। उत्पन्नम कथायोदय से लेकर अधिक से अधिक कथायोदय से उत्पन्न रस को चार विभागों में विभाजित किया गया है—१ मन्द, २ तीव्र, ३ तीव्रतर, ४ तीव्रतम्। उनकी ही एक स्थानक अऽयि संज्ञा है और इस प्रत्येक के भी मन्द, तीव्र आदि अन्वेत भेद होते हैं।

इन एकस्थानक आदि की व्याख्या भी इसी प्रकारण में आगे की जा रही है कि शुभ प्रकृतियों का रस खीर, लांड आदि की उपमा वाला मिष्ठ रस जैसा है और अशुभ प्रकृतियों का नीम, कढ़ी तूबड़ी आदि की उपमा वाला कटुक रस जैसा है। इनमें से जो उनका स्वाभाविक रस है वह एकस्थानक—मंद रस कहलाता है, दो भाग उबालने पर जो एक भाग शेष रहता है वह द्विस्थानक—तीव्र रस, तीन भाग उबालने पर शेष रहा एक भाग प्रिस्थानक—तीव्रतर रस है और चार भाग उबालने पर शेष रहा एक भाग चतुर्स्थानक तीव्रतम रस कहलाता है। एकस्थानक रस के भी छिन्हु, चुल्लु, अंजलि आदि प्रमाण पानी डालने पर मंद, अतिमंद आदि अनेक भेद होते हैं। इसी प्रकार द्विस्थानक आदि के भी अनेक भेद होते हैं। इस टृष्टान्त के माध्यम से कर्म में भी चतुर्स्थानक आदि रस और उन-उनके भी अनन्त भेद समझ लेना चाहिये और उनमें भी उत्तरोत्तर अनन्ताग्रुणता है। अर्थात् एकस्थानक रस से द्विस्थानक रस अनन्ताग्रुण तीव्र है, उससे प्रिस्थानक और प्रिस्थानक से भी चतुर्स्थानक रस अनन्ताग्रुण तीव्र है।

अब प्रकृत विषय का विचार करते हैं कि सर्वधाति प्रकृतियों के चतुर्स्थानक, प्रिस्थानक और द्विस्थानक रसस्पर्धक सर्वधाति ही हैं—‘सर्वधाति इण होति फङ्डाइ’ और देशधाति प्रकृतियों के मिश्र हैं। अर्थात् कितने ही सर्वधाति हैं और कितने ही देशधाति हैं और एकस्थानक सभी रसस्पर्धक देशधाति ही हैं। एकस्थानक रसस्पर्धक देशधाति प्रकृतियों के ही होते हैं किन्तु सर्वधाति प्रकृतियों में सम्मव नहीं है।

उक्त कथन का सारांश यह है कि प्रिस्थानक और चतुर्स्थानक रसस्पर्धक सर्वधाति ही हैं और सर्वधाति प्रकृतियों के द्विस्थानक रस-

रस के एकस्थानक आदि चार भेदों को करने का कारण है कि कषाय के चार प्रकार हैं और रसवर्ध्म में कारण कषाय हैं। जिससे रस के अनन्त भेदों का समावेश चार में किया है।

स्पर्धक तो सर्वधाति हैं, लेकिन देशधाति प्रकृतियों में पाये जाने वाले द्विस्थानक रसस्पर्धक देशधाति और सर्वधाति दोनों रूपों से मिश्रित हैं। एकस्थानक रस के निकटवर्ती देशधाति और त्रिस्थानक के समीप-वर्ती सर्वधाति और एकस्थानक रसस्पर्धक देशधाति ही हैं। सर्वधाति प्रकृतियों में चारों स्थानक रस सम्मव है और वह सर्वधाति ही होगा और देशधाति प्रकृतियों में एक और द्विस्थानक रस पाया जाता है। एकस्थानक तो शुद्ध रूप से देशधाति है, लेकिन द्विस्थानक का जो अंश सर्वधाति के निकटतम् है वह सर्वधाति के सहयोग से उस जैसा विपाक दिखलायेगा और शेष अंश स्वधारणगुण का आंशिक धात करेगा।

इस प्रकार से स्पर्धकों का विचार करने के पश्चात् अब जिस तरह औद्यिक भाव शुद्ध और क्षयोपशम भाव युक्त होता है, यह अतलाते हैं—

**निहएसु सर्वधाईरसेसु फह्नेसु देशधाईर्ण ।**

**जीवस्स गुणा जायंति ओहीमण्चक्खुमाईया ॥३०॥**

**शब्दार्थ—**निहएसु—निहित होने पर, परिणमित होने पर, सर्वधाईरसेसु—सर्वधाति रस के, फह्नेसु—स्पर्धक में, देशधाईर्ण—देशधाति प्रकृतियों के, जीवस्स—जीव के, गुणा—गुण, जायंति—उत्पन्न होते हैं, ओहीमण्चक्खुमाईया—अवधिज्ञान, मनपर्यायज्ञान, चक्षुदर्शन आदि।

**गाथार्थ—**देशधाति प्रकृतियों के सर्वधाति रसस्पर्धक निहित होने पर—परिणमित होने पर जीव को अवधिज्ञान, मनपर्यायज्ञान, चक्षुदर्शन आदि गुण उत्पन्न होते हैं।

**विशेषार्थ—**गाथा में औद्यिक भाव शुद्ध और क्षयोपशमभावयुक्त होने के कारण को बताया है कि जब अवधिज्ञानावरणादि देशधाति कर्मप्रकृतियों के रसस्पर्धक तथाप्रकार के विशुद्ध अध्यवसाय रूप बल के द्वारा निहित—देशधाति रूप में परिणमित होते हैं और अति-

स्त्रियों रस वाले देशधाति स्पर्धक भी अत्यरस वाले किये जाते हैं तब उनमें से उदयावलिका में प्रविष्ट कियने ही रसस्पर्धकों का क्षय और शीष स्पर्धकों के विपाकोदय को रोकने रूप उपशम होने पर जीव को क्षयोपशमभाव के अवधिज्ञान, मनधययिज्ञान और चक्षुदर्शनादि गुण उत्पन्न होते हैं।

उल्लं कथन का तात्पर्य यह है कि अवधिज्ञानावरणादि देशधाति कर्मप्रकृतियों के सर्वधाति रसस्पर्धकों का जब रसोदय हो तब तो केवल औदयिकभाव ही होता है, क्षयोपशमभाव नहीं होता है क्योंकि तब सर्वधाति स्पर्धक स्वावार्थ गुण को सर्वथाप्रकारेण आवृत्त करते हैं। परन्तु देशधाति रसस्पर्धकों का उदय होने पर उन देशधाति स्पर्धकों में से कितने ही का उदय होने से औदयिकभाव और कितने ही देशधाति रसस्पर्धक सम्बन्धी उदयावलिका में प्रविष्ट अंश का क्षय और अनुदित अंश का उपशम होने से क्षयोपशमिक, इस प्रकार ही दोनों भाव होने से क्षयोपशमिकभाव से अनुस्यूत—क्षयोपशमिकभाव युक्त औदयिकभाव होता है। लेकिन मतिज्ञानावरण, शुलज्ञानावरण, अचक्षुदर्शनावरण और अन्तराय, इन कर्मप्रकृतियों का तो सदैव देशधाति रसस्पर्धकों का ही उदय होता है, सर्वधातिरसस्पर्धकों का उदय नहीं होता है, जिससे उन कर्मप्रकृतियों के सदैव औदयिक-क्षयोपशमिक इस प्रकार मिश्रभाव होता है, सेकित मात्र औदयिकभाव नहीं होता है।

इसका कारण यह है कि देशधातिनी सभी कर्मप्रकृतियां बंध के समय सर्वधातिरस के साथ ही बंधती हैं और उदय में मति-शुलज्ञानावरण, अचक्षुदर्शनावरण और अन्तराय इतनी प्रकृतियों का सदैव देशधातिरस ही होता है। इनमें से जब सर्वधातिरस उदय में होता है तब वह रस स्वावार्थ गुण को सर्वथा आवृत्त करने वाला होने से चक्षुदर्शन, अवधिज्ञान आदि गुण प्रगट नहीं होते हैं किन्तु देशधाति रसस्पर्धकों का उदय ही तभी के गुण प्रगट होते हैं। इसलिए जब

सर्वधाति रसस्पर्धकों का उदय हो तब तो केवल औदयिकभाव ही होता है तथा सर्वधाति रसस्पर्धकों को अध्यवसाय के द्वारा वेशभूति रूप में करने और उनको भी होनशालि बाला पर विद्या अपेक्षी और उनका अनुभव करे तब औदयिक और क्षयोपशमधिक यह दोनों भाव होने से उदयानुविद्ध क्षयोपशमभाव पाया जाता है।

इस प्रकार से औदयिकभाव के शुद्ध और क्षयोपशमभाव युक्त होने की स्थिति जानना चाहिये।

अब पूर्व में जो रस के चतुर्स्थानक आदि भेद बतलायें हैं, उनकी बन्धायेका प्रकृतियों में बतलाते हैं कि किस प्रकृति में कितने प्रकार के रसस्पर्धक सम्भव हैं।

### बन्धायेका प्रकृतियों में रसस्पर्धक-प्रकार

आवरणमस्तव्यग्रं पुंसंजलर्णतरायष्यडीओ ।

चउद्गणपरिणयाओ दुतिचउठाणाऽ सेसाओ ॥३१॥

**शब्दार्थ**—आवरणमस्तव्यग्रं—सर्वधाति भाग से शेष आवरणद्विक, पुंसंजलर्णतराय—पुरुषवेद, संज्वलनकथाय और अन्तराय, पर्यडीओ—कर्म-प्रकृतियाँ चउद्गण—चतुर्स्थान, परिणयाओ—परिणत, मुत्तिचउठाणाओ—हि, त्रि और चतुर्स्थान परिणत, सेसाओ—शेष प्रकृतियाँ।

**शब्दार्थ**—सर्वधाति भाग से शेष आवरणद्विक—ज्ञानावरण, दर्शनावरण की प्रकृतियाँ, पुरुषवेद, संज्वलनकथाय और अन्तराय की प्रकृतियाँ चतुर्स्थान परिणत हैं और इनके अतिरिक्त शेष सभी प्रकृतियाँ हि, त्रि और चतुः इस तरह तीन स्थान परिणत हैं।

**विशेषार्थ**—शब्द में बन्धप्रकृतियों में प्राप्त रसस्पर्धकों के प्रकारों की बतलाया है—

‘आवरणमस्तव्यम्’ इत्थादि अर्थात्—सर्वथा प्रकार से ज्ञान और दर्शन को आद्युत करने वाली केवल ज्ञानावरण और केवल दर्शनावरण हन्त प्रकृतियों को छोड़कर शेष रही आवरणाद्विक की भूति, श्रुति, अवधिः, मनपर्ययिज्ञानावरण और चक्षुः, अचक्षु और अवधिदर्शनावरण तथा पुरुषवेद, सञ्चलन क्रीधादि आर और दानान्तराय आदि पांच अन्तराय कुल भिलाकर सत्रह प्रकृतियां चतुःस्थानपरिणत हैं। अर्थात् इन प्रकृतियों में एकस्थानक, द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतुःस्थानक इस तरह चारों प्रकार का रसबंध होता है। जिसका कारण यह है कि श्रेणि पर आरूढ़ होने के पूर्व तक तो इन सत्रह प्रकृतियों का अध्यवसाय के अनुसार द्विस्थानक, त्रिस्थानक अथवा चतुःस्थानक रसबंध होता है लेकिन श्रेणि पर आरूढ़ होने के पश्चात् नौंवें अनिवृत्तिबादरसंपरायमूणस्थान के संख्यात भागों के बीतने पर अत्यन्त विशुद्ध अध्यवसाय के घोम से जीव एकस्थानक रस बांधता है। जिससे ये सत्रह प्रकृतियां बंधापेक्षा चतुःस्थान परिणत मानी जाती हैं—‘चउद्गाणपरिणयाओ’।

‘दुतिचउठाणाओ सेसाओ’ अर्थात् पूर्वोक्त सत्रह प्रकृतियों के सिवाय शेष रही सभी शुभ अथवा अशुभ प्रकृतियों में बंधापेक्षा द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतुःस्थानक रसबंध होता है, किसी भी समय एकस्थानक रसबंध नहीं होता है। इन प्रकृतियों में एकस्थानक रसबंध नहीं होने का कारण यह है—

शुभ और अशुभ के भेद से प्रकृतियां दो प्रकार की हैं। इनमें से अशुभ प्रकृतियों का एकस्थानक रसबंध अनिवृत्तिबादरसंपरायमूणस्थान के संख्यात भागों के बीतने के पश्चात् सम्भव है, उससे पूर्व नहीं। क्योंकि इससे पहले एकस्थानक रसबंधयोग्य अध्यवसाय होते ही नहीं हैं और जिस समय एकस्थानक रसबंधयोग्य अध्यवसाय सम्भव हैं, उस समय मतिज्ञानावरण आदि पूर्वोक्त सत्रह प्रकृतियों के अलावा अन्य कोई अशुभ प्रकृतियां उनके बंधहेतुओं का विच्छेद हो जाने से

बंधती ही नहीं हैं, मात्र केवल ज्ञानावरण और केवल दर्शनावरण यही दो अशुभ प्रकृतियों बंधती हैं और इनके सर्वधाति होने से अस्थातिअत्य द्विस्थानक रस का ही बंध होता है। एकस्थानक रसबंध नहीं होता है और सर्वधाति प्रकृतियों का जघन्यपद में भी द्विस्थानक रसबंध ही सम्भव है।

अशुभ प्रकृतियों के रसबंध की तो यह हाँचि है। अब शुभ प्रकृतियों के बारे में बतलाते हैं कि अस्थन्ति विशुद्ध परिणाम वाला जीव शुभ प्रकृतियों के चतुःस्थानक रस का बंध करता है, परन्तु अस्थानक अथवा द्विस्थानक रस को नहीं बांधता है और मन्द, मन्दतर विशुद्धि में वर्तमान जीव अस्थानक अथवा द्विस्थानक रस को बांधता है और अब अस्थन्ति संक्लिष्ट परिणाम हो तब शुभ प्रकृतियों का बंध होता ही नहीं है। अतः तत्सम्बन्धी रसस्थान के बारे में विचार ही नहीं किया जा सकता है।

**प्रश्न**—नरकगतिप्रायोग्य कर्मप्रकृतियों को बांधने वाले अति संक्लिष्ट परिणामी जीव को भी वैक्रिय, तैजसशरीर, पर्वेन्द्रियजाति आदि शुभ प्रकृतियों का बंध होता है। अतः उनके रसस्थानक का विचार करना चाहिए।

**उत्तर**—नरकगतिप्रायोग्य कर्मप्रकृतियों के बंधक अतिसंक्लिष्ट परिणामी जीव के भी सथास्वधाव से उन प्रकृतियों का द्विस्थानक रसबंध ही होता है। पुण्य प्रकृतियां होने पर भी उनका एकस्थानक रसबंध नहीं हो पाता है। इस विषयक विशेष स्पष्टीकरण ग्रन्थकार आचार्य स्वयं यथास्थान आगे करने वाले हैं। अतः यहाँ संकेत मात्र किया गया है कि शेष प्रकृतियों में एकस्थानक रसबंध सम्भव न होने से सत्रह प्रकृतियों को छोड़कर शेष प्रकृतियों द्वि, त्रि और चतुःस्थान परिणत हैं।

इस प्रकार से विभागपूर्वक प्रकृतियों के रसस्थानकों का विचार

करने के पश्चात् अब उन स्थानकों के कथाय रूप बंधहेतुओं के प्रकारों को बतलाते हैं।

### रसस्थानकबंध के हेतु प्रकार

उप्पल भूमि वालुय जल रेहासरिस संपराएसु ॥

चउठाणाई असुभाण सेस्याण तु द्वच्चासो ॥३२॥

**शब्दार्थ—** उप्पल—पाषाण-ग्रन्थर, भूमि—भूमि, वालुय—वालू, रेही—जल—जल, पानी, रेहा—रेहा, सरिस—सहश, संपराएसु—कथायों द्वारा, चउठाणाई—चतुर्स्थानक आदि, असुभाण—असुभ प्रकृतियों का, सेस्याण—शेष प्रकृतियों का, तु—किस्तु, द्वच्चासो—विपरीतता में।

**गाथार्थ—** पाषाणरेखा, भूमिरेखा, वालूरेखा और जलरेखा सहश कथायों द्वारा अशुभ प्रकृतियों का क्रमशः चतुर्स्थानक आदि रस बंध होता है किन्तु शुभ प्रकृतियों का कथायों के उत्तक क्रम की विपरीतता से समझना चाहिए।

**विशेषार्थ—** कर्मप्रकृतियों में रसबंध-अनुभागबंध की कारण कथाय है। इसी अपेक्षा से ग्रन्थकार आचार्य ने अशुभ और शुभ प्रकृतियों के तीव्रतम आदि रसबंध में हेतुभूत कथायों की स्थिति को उपमाद्वारा स्पष्ट किया है कि अमुक रूपवाली कथाय के द्वारा किस प्रकार का रसबंध होगा।

सर्वप्रथम अशुभ प्रकृतियों के रसस्थानकों के बंध का विचार करते हैं—

‘चउठाणाई असुभाण’ अर्थात् अशुभ प्रकृतियों के चतुर्स्थानक, विस्थानक, द्विस्थानक और एकस्थानक रस का बंध अनुक्रम से पत्थर, भूमि, वालू और जल में खींची गई रेखा के तुल्यरूप कथायों द्वारा होता होता है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पत्थर में आई दरार के सहश अनन्तानुबंधिकथाय के उदय से सभी अशुभ प्रकृतियों का अतुर्स्थानक रसबंध होता है। सूर्य के साथ

से सूखने पर तालाब में आई दरारों जैसी अप्रत्याहरणीय रणकथाय के द्वारा विस्थानक रसबंध और बालू के हेर में खीची गई रेखा जैसी अप्रत्याहरणीय रणकथाय के द्वारा द्विस्थानक रसबंध और धानी में खीची गई रेखा जैसी संज्वलन कथाय के द्वारा एकस्थानक रसबंध होता है। लेकिन इतना विशेष है कि एकस्थानक रसबंध विस्थानाद्य विद्युत् शुद्धीत्व संतुष्टि अकृतियों का ही समझना चाहिए, सभी अशुभ प्रकृतियों का नहीं होता है।

इस प्रकार से अशुभ प्रकृतियों के रसबंध में कथायहेतुता का रूप समझना चाहिए और शुभ प्रकृतियों के रसबंध में कथायहेतुता का क्रम विवरीत है। जो इस प्रकार है कि पथर में आई हुई दरार के समान कथाय के उदय द्वारा पुण्य-शुभ प्रकृतियों का द्विस्थानक रसबंध, शुर्क की गरमी से सूखे तालाब में पड़ी हुई दरारों के सहज कथाय द्वारा विस्थानक और रेती तथा जल में खीची गई रेखा जैसी कथायों द्वारा विद्युत्स्थानक रसबंध होता है। इतना विशेष है कि संज्वलन कथायों के द्वारा तीव्र विद्युत्स्थानक रसबंध होता है।

उक्त सम्बन्ध कथन का सारांश यह है कि रसबंध कथाय पर आधारित है। कथायों की तीव्रता के अनुरूप अशुभ प्रकृतियों के रसबंध में तीव्रता और शुभ प्रकृतियों के रसबंध में मन्दसा तथा जैसे-जैसे कथायों की मंदता, तदनुरूप पाप प्रकृतियों का रसबंध मंद और पुण्य प्रकृतियों का रसबंध तीव्र होता है। चाहे जैसे संक्लिष्ट परिणाम होने पर भी जीवस्वभाव के कारण पुण्य प्रकृतियों में द्विस्थानक रस का ही बंध होता है, एकस्थानक रसबंध होता ही नहीं है। आत्मा स्वभाव से निर्मल है, संक्लिष्ट परिणामों का चाहे जितना उस पर असर हो, लेकिन इसमें निर्मलता तो रहती है कि जिसके द्वारा पुण्य प्रकृतियों कम से कम द्विस्थानक रस वाली ही बंधती हैं।

इस प्रकार शुभाशुभ प्रकृतियों के रसबंध में कथायहेतुता का क्रम समझना चाहिये। अब उपर्याद्वारा शुभाशुभ प्रकृतियों के रस का स्वरूप बतलाते हैं।

## शुभमुख रस की उपमा

घोसाडइनिवृत्तमो असुभाण सुभाण खीरखंडुबमो ।

एमटुष्टी उ रसो अण्ठंगुणिया कमेणियरा ॥३३॥

**गाथार्थ**—**घोसाड**—घोषातकी-कड़वी तूंबड़ी, जिवृत्तमो—नीम के रस की उपमा वाला, असुभाण—अशुभ प्रकृतियों का, सुभाण—शुभ प्रकृतियों का, खीरखंडुबमो—खीर, दुध, छोड़ के रस की उपमावाला, एमटुष्टी—एक स्थानक, उ—और, रसो—रस, अण्ठंगुणिया—प्रनन्तगुणित, कमेण—कम से, द्वयरा—द्वितीर, द्विस्थानक आदि ।

**गाथार्थ**—अशुभ प्रकृतियों का एकस्थानक रस भी घोषातकी और नीम के रस की उपमा वाला है और शुभ प्रकृतियों का खीर और खांड की उपमा वाला है और उस एकस्थानक रस से इतर—द्विस्थानक आदि रस क्रमशः अनन्तगुणित जानला चाहिए ।

**विशेषार्थ**—गाथा में अशुभ और शुभ प्रकृतियों के रस की उपमेव पदार्थों के साथ तुलना की है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

अशुभ प्रकृतियों का एकस्थानक रस घोषातकी, कड़वी तूंबड़ी और नीम के रस की उपमा वाला है और विपाक में अति कड़वा होता है तथा शुभ प्रकृतियों का एकस्थानक रस के जैसा प्रारम्भ का—शुहआत का द्विस्थानक रस खीर और खांड के रस की उपमा वाला, मन के परम आह्वाद का हेतु और विपाक में मिष्ट होता है तथा उस एकस्थानक रस से इतर द्विस्थानकादि रस अनुक्रम से अनन्तगुण तीव्र समझना चाहिये—‘अण्ठंगुणिया कमेणियरा’। वह इस प्रकार कि एकस्थानक रस से द्विस्थानक रस अनन्तगुणा तीव्र है और उस द्विस्थानक रस से त्रिस्थानक रस एवं त्रिस्थानक रस से चतुर्थस्थानक रस उत्तरोत्तर अनन्त-गुण तीव्र समझना चाहिये। इसका कारण यह है कि जैसे एकस्थानक

रस के भी मंद, अतिमंद आदि अनन्त भेद होते हैं, उसी प्रकार द्विस्थान-कादि प्रत्येक के भी अनन्त भेद होते हैं।

इन प्रत्येक रसस्थानक के अनन्त भेदों में से अशुभ प्रकृतियों का सर्वजनन्य एकस्थानक रस भी नीम, घोषातकी के रस की उपमा बला है और, शुभप्रकृतियों का सर्वजनन्य द्विस्थानक रस लीर (दूध) और खांड के स्वामाचिक रस की उपमाबाला है। शेष अशुभ प्रकृतियों के एकस्थानक रसयुक्त स्पर्धक और शुभ प्रकृतियों के द्विस्थानक रसयुक्त स्पर्धक अनुक्रम से अनन्तगुणित शक्तिवाले हैं और उनसे भी अशुभ प्रकृतियों के द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतुर्स्थानक रसवाले स्पर्धक और शुभ प्रकृतियों के त्रिस्थानक और चतुर्स्थानक रस वाले स्पर्धक अनुक्रम से अनन्तगुण शक्ति वाले समझना चाहिए।

इस प्रकार से धाति-देशधाति और शुभ-अशुभ प्रकृतियों सम्बन्धी आवश्यक विवेचन करने के पश्चात् अब द्वारों के नामोलेख करने के प्रसंग में गाथा में आगत 'च' शब्द से संकलित प्रकृतियों की सस्ता की धूवाधूवरूपता बतलाते हैं।

### अधुवस्ताका प्रकृतियां

उच्चं तित्थं सम्मं मीसं वेऽविद्युकम् ऊणि ।

मणुदुग्म आहारदुग्म अद्वारस अधुवसंताओ ॥३४॥

**शब्दार्थ—** उच्चं—उच्चगीव, तित्थं—तीर्थकरनाम, सम्मं—सम्यक्त्व, मीसं—मिथमोहनीय, वेऽविद्युकम्—वैक्रियषट्क, ऊणि—आयुवतुष्क, मणुदुग्म—मनुष्यदिक, आहारदुग्म—आहारदिक, अद्वारस—अठारह प्रकृतियां, अधुवसंताशो—अधुवसत्ताका।

**पाठार्थ—** उच्चमीश, तीर्थकरनाम, सम्यक्त्व एवं मिथ्यमोहनीय, वैक्रियषट्क, आयुवतुष्क, मनुष्यदिक और आहारकदिक ये अठारह प्रकृतियां अधुवसत्ताका हैं।

**विशेषार्थ—**गाथों में अध्रुवसत्तावाली अठारह प्रकृतियों के सम्बन्ध बतलाये हैं। इसका आशय हुआ कि सत्तायोग्य एक सौ अद्वातालीस प्रकृतियों में से गाथोक्त अठारह प्रकृतियां अध्रुवसत्तावाली और शेष प्रकृतियां ध्रुवसत्तावाली हैं। अध्रुवसत्ताका और ध्रुवसत्ताका के लक्षण इस प्रकार हैं—

जो कभी सत्ता में होती है और किसी समय नहीं होती है ऐसी अनियत सत्तावाली प्रकृतियों को अध्रुवसत्ताका और अपने-अपने विच्छेद के पूर्व तक जिनकी नियत, निश्चित रूप से सत्ता पाई जाती है, ऐसी प्रकृतियों को ध्रुवसत्ताका कहते हैं।

अध्रुवसत्ताका प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

उच्चगोत्र, लीर्धकरनाम, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी, वैक्रियशारीर और वैक्रिय-अंगोपांग रूप वैक्रियषट्क, नरकायु, तिर्थचायु, मनुष्यायु, देवायु, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी रूप मनुष्यषट्क, आहारकशारीर, आहारक-अंगोपांग रूप आहारकद्विक।

ये अठारह प्रकृतियां किसी समय सत्ता में होती हैं और किसी समय सत्ता में नहीं होती हैं।

इन अठारह प्रकृतियों को अध्रुवसत्ताका मानने का कारण यह है—

उच्चगोत्र और वैक्रियषट्क ये सात प्रकृतियां जब तक जीव ऋस-पर्याय प्राप्त किया हुआ नहीं होता है तब तक सत्ता में नहीं होती है। वसावस्था के प्राप्त होने पर इनका बंध करता है, यानी सत्ता में होती है। इस प्रकार से सभी जीवों के इनकी सत्ता प्राप्त नहीं होने से ये प्रकृतियां अध्रुवसत्तावाली मानी गई हैं। अथवा ऋस अवस्था में बंध के द्वारा सत्ता प्राप्त हो भी जाये, लेकिन स्थावरभाव को प्राप्त जीव अवस्थाविशेष (स्थावर-अवस्था) को प्राप्त करके इनकी उद्दलता

कर देता है। इसलिए ये उच्चभोग आदि सत्त्व प्रकृतियाँ अध्रुव-सत्त्वाकां हैं।

जनयनत्वभोगीय और भवयस्थित्यत्वभोगीय में दो प्रकृतियाँ जब तक तथाविध भव्यत्वभाव का परिपाक और सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता है तब तक सत्ता में प्राप्त नहीं होती है। तथाविध भव्यत्वभाव के परिपाक एवं सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर ही इनकी सत्ता होती है। अथवा सत्ता में प्राप्त होने पर भी मिथ्यात्व में पहुँचा हुआ जीव इनकी उद्वलना कर देता है और अभव्य को तो इनकी सत्ता होती ही नहीं है। इसलिये ये दोनों प्रकृतियाँ भी अध्रुवसत्ता वाली हैं।

तीर्थकरनामकर्म की सत्ता भी तथाप्रकार की विशिष्ट विशुद्धि से युक्त सम्यक्त्व के सद्भाव में होती है और आहारकट्टिक का बंध भी तथारूप संयम के होने पर होता है; किन्तु संयम के अभाव में बंध नहीं होता है। यदि हो भी जाये तो अविरत रूप निमित्त से उद्वलना हो जाती है। मनुष्यट्टिक की भी तेजस्काय और वायुकाय में गया जीव उद्वलना कर देता है। इसलिए ये तीर्थकरनाम आदि पांच प्रकृतियाँ अध्रुवसत्ता कांहीं हैं।

देवभव में नरकायु की, भारकभव में देवायु की, आनन्दादि स्वर्गों के देवों में तिर्यचायु की, तेजस्कायिक, वायुकायिक और सप्तम नरक के नारकों के मनुष्यायु की सत्ता होती ही नहीं है। अतः आयुचतुष्क प्रकृतियाँ अध्रुवसत्ता वाली हैं।

प्रश्न—अनन्तानुबंधि कषायों की उद्वलना सम्भव होने से सत्ता का नाश होने के पश्चात् पुनः मिथ्यात्व के निमित्त से बंध होने पर अनन्तानुबंधि कषायों की सत्ता प्राप्त हो जाती है। अतः उनको अध्रुव-सत्त्वाका मानना चाहिए। किन्तु उनको ध्रुवसत्त्वाका क्यों माना गया है?

उत्तर—अनन्तानुबंधि कथाओं को अध्यक्षता वाली मानने का कारण यह है कि जो कर्मप्रकृतियाँ किसी प्रतिभित अवस्था के आश्रय से बंधती हैं परन्तु सदैव नहीं बंधती हैं और सम्यक्त्वादि विशिष्ट गुण की प्राप्ति के बिना तथाप्रकार के भवप्रत्ययादि कारण के द्वारा से उद्वलनयोग्य होती है, उन्हें अध्यक्षता वाली माना है लेकिन जो कर्मप्रकृतियाँ सदैव सभी जीवों को बंधती हैं और विशिष्ट गुण की प्राप्ति पूर्णक उद्वलनयोग्य होती है, उनको अध्यक्षता वाला नहीं माना है। क्योंकि उनकी उद्वलना में विशिष्ट गुण की प्राप्ति हेतु है और विशिष्ट गुण की प्राप्ति के द्वारा तो सभी कर्मों की सत्ता का नाश होता है। लेकिन अनन्तानुबंधि कथाओं की सत्ता सम्यक्त्वादि विशिष्ट गुण की प्राप्ति के बिना तो सब जीवों की सदैव होती है, उनकी उद्वलना में सम्यक्त्वादि विशिष्ट गुण की प्राप्ति हेतु है, परन्तु सामान्य से भवादि हेतु नहीं है, जिससे उनकी अध्यक्षता नहीं किन्तु अध्यक्षता ही है।<sup>१</sup> तथा उच्चगोत्रादि प्रकृतियाँ असत्त्व आदि विशिष्ट अवस्था की प्राप्ति होने पर बंधती हैं और तथाविधि विशिष्ट गुण की प्राप्ति के बिना ही स्थावरादि अवस्थाएँ में जाने पर उद्वलनयोग्य होती हैं। इसीलिये वे अध्यक्षता वाली हैं।

पूर्वोक्त अठारह प्रकृतियों के सिवाय शेष रही एक सी तीस सत्ता-

<sup>१</sup> उक्त कथान का तात्पर्य यह है कि सम्याहृष्टि जीवों के अनन्तानुबंधि कथाओं का उद्वलन हीता है, किन्तु अध्यक्षताकरण का विवार उन्हीं जीवों की अपेक्षा किया है, किन्तु उन्होंने सम्यक्त्व आदि उत्तरगुणों की प्राप्ति नहीं किया है। यदि उत्तरगुणों की प्राप्ति की अपेक्षा से अध्यक्षताकरण को मानन जायेगा तो केवल अनन्तानुबंधि कथाओं ही नहीं अन्य सभी प्रकृतियाँ भी अध्यक्षताका कहायायेंगी। क्योंकि उत्तरगुणों के होने पर तो सभी प्रकृतियाँ अपने-अपने योग्य स्थान में सत्ता से विच्छिन्न हो जाती हैं।

योग्य प्रकृतियां ध्रुवसत्ताका हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—  
 असदशक, स्थावरदर्शक, वण्डिबीस, तेजसशारीर, कार्मण  
 शारीर, तेजस-तेजसबंधन, तेजस-कार्मणबंधन, कार्मण-कार्मण-  
 बंधन, तेजस-संधातन और कार्मण-संधातन रूप तेजस-कार्मण सप्तक  
 और ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों में से वण्डचतुष्क, तेजस, कार्मण  
 के सिवाय शेष इकतालीस प्रकृतियां, वेदात्मिक, संस्थानषट्क, संहनन-  
 षट्क, जातिपञ्चक, साता-असातावेदनीयद्विक, हास्य-रति युगल,  
 अरति शोक युगल, औदारिकशरीर, औदारिक अंगोपाग, औदारिक  
 संधातन, औदारिक-औदारिकबंधन, औदारिक-तेजसबंधन, औदारिक-  
 कार्मण बंधन और औदारिक-तेजस-कार्मणबंधन रूप औदारिक  
 सप्तक, उच्छ्वास, आतप, उच्छोत, पराधात, विहायोगतिद्विक, तिर्यक-  
 द्विक और नीच गोत्र। ये एक सौ तीस प्रकृतियां सम्यक्त्व-लाभ से  
 पहले-पहले सभी प्राणियों में सदैव सम्भव होने से ध्रुवसत्ता वाली  
 कहलाती हैं।

इस प्रकार से ध्रुव और अध्रुव सत्ताका प्रकृतियां जानना चाहिए।  
 अब पूर्व गाथा के संकेतानुसार उद्वलन योग्य प्रकृतियां बतलाते हैं—

३ यही एक तो अङ्गतालीस की गणनापेक्षा एक सौ तीस प्रकृतियां ली हैं।  
 यदि पांच वंधन ग्रहण करें तो एक सौ छब्बीस प्रकृतियां होती हैं।  
 ग्रन्थकार आचार्य ने श्वोपत्र टीका में अध्रुव सत्ता में अठारह और ध्रुव-  
 सत्ता में एक सौ चार प्रकृतियां ग्रहण की हैं। जिसमें उदय की विवरण  
 की है। सत्ता की हृषिट से गिने से अध्रुव सत्ता में बाईस और ध्रुव सत्ता  
 में एक सौ छब्बीस होती हैं। पूर्वोक्त अठारह में आहारक बंधन, संधातन  
 और वैकिय बंधन, संधातन इन चार को मिलाने पर बाईस होती हैं।  
 योग एक सौ छब्बीस ध्रुवसत्ता में होती है। पश्चात् वंधन के हिसाब से  
 पूर्वोक्त अठारह में आहारक के चार बंधन, एक संधातन और वैकिय के  
 चार बंधन और एक संधातन मिलाने पर अट्ठाईस अध्रुव सत्ता में और  
 योग एक सौ तीस ध्रुव सत्ता में होती है।

## उद्वलन प्रकृतियाँ

पढमकसायसमेया एयाओ आउतित्थवज्जाओ ।

सत्तरसुव्वलणाओ तिगेसु गतिआणुपुच्चाङ् ॥३४॥

**शब्दार्थ—**पढमकसायसमेया—प्रथम कषाय (अनन्तानुबंधिकाय) सहित, एयाओ—ये, आउतित्थवज्जाओ—आयुचतुष्क और तीर्थकरनाम को छोड़कर, सत्तरस—सप्तह, उव्वलणाओ—उद्वलनयोग्य, तिगेसु—किंक में, गतिआणुपुच्चाङ्—गति, आनुपूर्वी और आयु ।

**गाथार्थ—**आयुचतुष्क और तीर्थकरनाम को छोड़कर प्रथम कषाय युक्त सप्तह प्रकृतियाँ उद्वलनयोग्य हैं। शिक के संकेत से गति, आनुपूर्वी और आयु इन तीन का ग्रहण करना चाहिए ।

**विशेषार्थ—**गाथा में उद्वलनयोग्य प्रकृतियाँ बतलाई हैं। उद्वलनयोग्य प्रकृतियाँ दो प्रकार की हैं—१—श्रेणि पर आरोहण करने के पूर्व और २ श्रेणि पर आरोहण करने के पश्चात् उद्वलन-योग्य । इनमें से श्रेणि पर आरोहण करने के पश्चात् उद्वलन-योग्य प्रकृतियों को प्रदेशसंक्रम अधिकार में यथाप्रसंग बतलाया जायेगा ।<sup>१</sup> लेकिन यहाँ सामान्य से श्रेणि पर आरोहण करने से पूर्व की उद्वलन प्रकृतियों को बतलाया है कि पूर्व गाथा में बताई गई अठारह अध्रुव-सत्ताका प्रकृतियों में से आयुचतुष्क और तीर्थकर नाम इन पांच प्रकृतियों को कम करने से बोध रही लेरह प्रकृतियों में अनन्तानुबंधि-

<sup>१</sup> श्रेणि में उद्वलन-योग्य प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं—अप्रत्याख्यानाचरणादि संज्ञलभ सौध के बिना यारह कषाय, नव लोककाय, रुद्रामदित्रिक, स्थावरदिक, तिर्थचट्टिक, भरकट्टिक, आतपट्टिक, एकेन्द्रियादिकाति-चतुष्क और साधारणलापकम् ।

चतुष्क को मिलाने पर कुल सत्रह प्रकृतियाँ उद्वलनशोध्य हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

१. उच्चगोष, २. सम्यक्त्व, ३. मिश्रमोहनीय, ४. देवगति, ५. देवानुपूर्वी, ६. नरकगति, ७. नरकानुपूर्वी, ८. वैक्रियशरीर, ९. वैक्रिय-अंगोपांग, १०. मनुष्यगति, ११. मनुष्यानुपूर्वी, १२. आहारकर्त्तरीर, १३. आहारक अंगोपांग, १४-१७. अनन्तानुबंधि ध्रुवधि-मान-माया-लोभ।

इनमें से अनन्तानुबंधिचतुष्क और आहारकट्टिक को छोड़कर शेष ग्यारह प्रकृतियों की उद्वलना पहले मिथ्यास्वगुणस्थान में होती है तथा अनन्तानुबंधिक्षयामयचतुष्क की उद्वलना चौथे से सातवें गुणस्थान पर्यंत और आहारकट्टिक की उद्वलना अविरतपदे में होती है।

अब संज्ञाविद्येष में ग्रहण की जाती प्रकृतियों के विषय में संकेत करते हैं कि 'तिगेसु'—अर्थात् जहाँ कहीं भी देवत्रिक, मनुष्यत्रिक इस प्रकार त्रिक का उल्लेख हो, वहाँ उसकी गति, आनुपूर्वी और आयु का ग्रहण समझना चाहिए। जैसे कि मनुष्यत्रिक में मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी और मनुष्यायु के तीन प्रकृतियाँ गम्भीर हैं। इसी प्रकार देवत्रिक, तिर्यकत्रिक और नरकत्रिक के लिए भी जानना चाहिए। इसी तरह अन्यत्र भी संज्ञाविद्यों द्वारा उन-उनमें गम्भीर प्रकृतियों की समझ लेना चाहिए।

इस प्रकार से अभी तक प्रतिपक्ष सहित ध्रुवबंधिनी, ध्रुवोदया, सर्वधातिनी, परावर्तमान, अशुभ और ध्रुवसत्ताका आदि विभागों में कर्मप्रकृतियों का वर्णकरण करके तत्त्व वर्ग में संकलित प्रकृतियों को तो बतला दिया है—लेकिन उन विभागों के लक्षण नहीं बतलाये। अतः अब ग्रन्थकार आचार्य यथाक्रम से उनके लक्षण बतलाते हैं। सबसे पहले ध्रुवबंधि और अध्रुवबंधि पद का अर्थ स्पष्ट करते हैं।

### अद्वृत्वाद्वृत्वविषयक एव अर्थः

नियहेतु संभवेवि हु भयणिज्जो होइ जाण पयडीण ।

बंधो ता अधुवाओ धुवा अभयणीयद्वाओ ॥३६॥

गाथार्थ—नियहेतु—अपने बंधहेतु<sup>१</sup> के, संभवेवि—संभव होने पर, हु—भी, भयणिज्जो—भजनीय, भजना से, होइ—होता है, जाण—जिनका, पयडीण—प्रकृतियों का, बंधो—बंध, ता—वे, अधुवाओ—अधुव, धुवा—धुव, अभयणीय—अभजनीय, नियिचत, बंधाओ—बंध ।

गाथार्थ—अपने बंधहेतु के सम्भव होने पर भी जिन प्रकृतियों का बंध भजना से होता है, वे अधुवविषयी और जिनका बंध नियिचत है, वे अद्वृत्वविषयी कहलाती हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में अद्वृत्वविषय और अद्वृत्वविषय का संरक्षण बतलाया है । उनमें से पहले अद्वृत्वविषयत्व का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है—

'नियहेतु संभवेवि' इत्यादि अथर्वा जिन प्रकृतियों का बंध अपने मिथ्यात्वादि सामान्य बंधहेतुओं<sup>२</sup> के विद्यमान रहते भी भजनीय होता है यानी सामान्य बंधहेतुओं के सदृशाव में भी जिनका किसी समय बंध होता है और किसी समय नहीं भी होता है, ऐसी प्रकृतियाँ अद्वृत्वविषयी कहलाती हैं । उन प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

ओदारिकद्विक, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, गतिचलुषक, जातिपञ्चक, विहायोगतिद्विक, आनुपूर्वचितुष्क, संस्थानषट्क, संहृतनषट्क, ऋसादि

१ जिन प्रकृतियों के जो-जो विशेष बंधहेतु हैं, वे बंधहेतु अब शाप्त हीं तब-तब उन-उन प्रकृतियों का बंध अवश्य होता है, याहे फिर वे अधुवविषयी हों । इसीलिए यहो अद्वृत्वाद्वृत्वविषयत्व में सामान्य बंधहेतुओं की मिलका की है ।

बीस (त्रिसद्वाक, स्थावरद्वाक) उच्छ्वासनाम, तीर्थकरनाम, आतपनाम, उच्चोलनाम, पराषातनाम, साता-असालावेदनीयद्विक, आयु-चतुष्क, गोव्रद्विक (उच्चगोश, नीचगोश), हास्य-रति और अरति-शोक, वेदात्रिक। कुल मिलाकर ये तिहत्तर प्रकृतियां अध्रुवबंधिनी हैं और इनको अध्रुवबंधिनी मानने का कारण यह है कि सामान्य बंधहेतुओं के प्राप्त होने पर भी इनका विकल्प से—भजना से बंध होता है। अथवा अवश्य बंध हो ऐसी नहीं होने से ये प्रकृतियां अध्रुवबंधिनी मानी जाती हैं।

जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पराषातनाम और उच्छ्वासनामकर्म के अविरत आदि अपने बंधहेतुओं के होने पर भी जब पर्याप्त नामकर्म के योग्य कर्मप्रकृतियों का बंध हो तभी इनका बंध होता है, अपर्याप्तयोग्य कर्मबंध होने की स्थिति में ये प्रकृतियां नहीं बंधती हैं। आतपनाम एकेन्द्रिययोग्य प्रकृतियों का बंध होने पर बंधती है, शेषकाल में इसका बंध नहीं होता है।

तीर्थकरनाम और आहारकद्विक के अनुक्रम से सम्यक्तव और संयमरूप अपने-अपने सामान्य बंधहेतु होने पर भी किसी समय इनका बंध होता है। प्रत्येक सम्यग्दृष्टि और संयमी इनका बंध नहीं करता है। किन्तु तथाप्रकार की पारिणामिक योग्यता होने पर इनका बंध सम्भव होने से ये तीनों प्रकृतियां अध्रुवबंधिनी मानी जाती हैं।

पूर्वोक्त से शेष रही औदारिकद्विक आदि सङ्गठ प्रकृतियां अपने-अपने सामान्य बंधहेतुओं का सद्भाव होने पर भी परस्पर विरोधी होने से तिरन्तर नहीं बंधने के कारण अध्रुवबंधिनी हैं।

इस प्रकार औदारिकद्विक आदि वेदात्रिक पर्यन्त तिहत्तर प्रकृतियां अध्रुवबंधिनी जानना चाहिए और जो अपने सामान्य बंधहेतुओं के होने पर अवश्य बंधती हैं वे 'धुवा अभ्यणीयबंधाओ'—अध्रुवबंधिनी

प्रकृतियों कहलाती हैं। ऐसी मतिज्ञानावरणादि संतालीस प्रकृतियों के नाम पूर्व में बतलाये जा चुके हैं।<sup>१</sup>

ध्रुवाध्य-ब्रह्मित्व पद का अर्थ बतलाने के पश्चात् अब ध्रुवाध्य-दयित्व पद का अर्थ बतलाने के लिए पहले उदयहेतुओं का निर्देश करते हैं—

### उदयहेतु

दब्वं खेतं कालो भवो य भावो य हेयबो पञ्च ।

हेतुसमासेणुदओ जायइ सत्त्वाण पगईण ॥३७॥

**वाचार्थ—** दब्वं—द्रव्य, खेतं—क्षेत्र, कालो—काल, भवो—भव, य—और, भावो—माव, य—और, हेयबो—हेतु, पञ्च—पांच, हेतुसमासेण—हेतुओं के समुदाय द्वारा, उदयो—उदय, जायइ—होता है, सत्त्वाण—सभी, पगईण—प्रकृतियों का ।

**गाथार्थ—** द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव ये पांच उदयहेतु हैं। इन हेतुओं के समुदाय द्वारा सभी कर्मप्रकृतियों का उदय होता है।

**विशेषार्थ—** कर्मसिद्धान्त में जैसे सभी कर्मप्रकृतियों के सामान्य बंधहेतुओं का विचार किया गया है, उसी प्रकार से उदयहेतु भी बतलाये हैं—

‘दब्वं खेतं कालो’ इत्यादि अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव ये पांच सामान्य से सभी कर्मप्रकृतियों के उदय के लिए समुदाय रूप में हेतु हैं। इनमें कर्म के पुद्गल द्रव्य हैं, अथवा सथाप्रकार का कोई भी बाह्य कारण कि जो उदय होने में हेतु हो। जैसे कि सुने जा-

<sup>१</sup> गाथा १५ के विशेषार्थ में ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के नाम और इनके ध्रुव-बंधित्व के कारण को स्पष्ट किया है।

खेदुभासित भाषावर्गण के पुदगल कोष के उदय के कारण हैं, उसी प्रकार इसी तरह के और दूसरे भी पुदगल, जो कर्म के उदय में हेतु होते हैं, उन्हें द्रव्य कहते हैं। इसी प्रकार आकाशप्रदेश रूप क्षेत्र, समयादि रूप काल, मनुष्यभव आदि रूप भव और जीव के परिणामविकेष रूप भाव, ये सभी हेतु कर्मप्रकृतियों के उदय में कारण हैं। लेकिन ये पांचों पृथक्-पृथक् उदय के हेतु नहीं हैं किन्तु 'हेतुसमासेणुदओ'—पांचों का समूह—समुदाय कारण है।

उक्त कथन का आशय यह है कि द्रव्यादि पांचों का समुदाय—पांच का परस्पर सम्बन्ध भिलने पर सभी अङ्गांशों का उदय होता है। एक ही प्रकार के एक जैसे द्रव्यादि हेतु सभी कर्मप्रकृतियों के उदय में कारण रूप नहीं होते हैं, परन्तु भिन्न-भिन्न प्रकार के द्रव्यादि हेतु कारण होते हैं। कोई एक द्रव्यादि सामग्री किसी प्रकृति के उदय में हेतु होती है, और कोई सामग्री किसी के उदय में। लेकिन यह निश्चित है कि द्रव्य, क्षेत्र आदि पांचों का संयोग भिलने पर, समुदाय होने पर ही प्रत्येक कर्मप्रकृति उदय में आकर अपना वेदन करायेगी।

इस प्रकार से उदयहेतुओं को बतलाने के पश्चात् अब उदयाश्रयी ध्रुवाध्रुवत्व पद का अर्थ स्पष्ट करते हैं।

### ध्रुवाध्रुवोदयत्व का अर्थ

अव्योचित्तन्तो उदओ जाणं पराईण ता ध्रुवोदइया ।

कोचित्तन्तोवि हु संभवइ जाण अध्रुवोदया ताओ ॥३८॥

शब्दार्थ—अव्योचित्तन्तो—अव्यवचित्तन्त्र—निरन्तर, उदओ—उदय, जाण—जिनका, पराईण—प्रकृतियों का, ता—वे, ध्रुवोदइया—ध्रुवोदय, वोचित्तन्तोवि—विचित्तन्त्र हो जाने पर भी, हु—निश्चित, संभवइ—संभव हो, जाण—जिनका, अध्रुवोदय—अध्रुवोदय, ताओ—वे।

शब्दार्थ—जिन प्रकृतियों का अव्यवचित्तन्त्र—निरन्तर उदय

है, उन्हें ध्रुवोदया और विच्छिन्न ही जाने पर भी जिन प्रकृतियों का उदय सम्भव है, वे अध्रुवोदया जानना चाहिये।

**विशेषार्थ**—गाथा में ध्रुवोदयस्त्व और अध्रुवोदयस्त्व की लाक्षणिक व्याख्या की है कि जिन कर्मप्रकृतियों का अपने उदयविच्छेदकाल पर्यन्त निरन्तर उदय हो, ऐसी प्रकृतियाँ ध्रुवोदया कहलाती हैं और उदयविच्छेदकाल में उदय का नाश होने पर भी तथाप्रकार की द्रव्यादि सामग्री रूप हेतु के प्राप्त होने पर पुनः जिन प्रकृतियों का उदय होता है, उदय होने लगता है, वे अध्रुवोदया प्रकृतियाँ हैं।

ध्रुवोदया प्रकृतियाँ सत्तादैश और अध्रुवोदया पञ्चानवी हैं। इन दोनों प्रकार की प्रकृतियों के नाम पूर्व में (गाथा १६ की व्याख्या के प्रसंग में) बतलाये जा चुके हैं।

इस प्रकार से ध्रुवोदया-अध्रुवोदया पद का अर्थ जानना चाहिये। अब क्रमप्राप्त सर्वधाति, देशधाति, शुभ और अशुभ पद का स्वरूप बतलाते हैं।

### सर्वधाति आदि पदों का अर्थ

असुभसुभत्तणधाइत्तणाइं रसभेयओ मुणिङ्गजाहि ।

सविसयधायभेण वावि धाइत्तण नेय ॥३८॥

**शब्दार्थ**—असुभसुभत्तणधाइत्तणाइं—अशुभत्व और शुभत्व, धाइत्तणाइं—धातित्व आदि, रसभेयओ—रसभेदों से, मुणिङ्गजाहि—जानो, सविसयधायभेण—हत्तिय को चात करने के भेद से, वावि—अथवा, धाइत्तण—धातित्व, नेय—जानना चाहिये।

**गाथार्थ**—अशुभत्व, शुभत्व और धातित्व रस के भेद से जानो अथवा स्व—अपने विषय को धात करने के भेद से धातित्व जानना चाहिये।

**विशेषार्थ**—गाथा में अशुभत्व, शुभत्व और धातित्व के कारण जो

बताते हुए उसका लक्षण बतलाया है कि कर्मप्रकृतियों में अशुभत्व, शुभत्व तथा सर्व एवं देश की अपेक्षा धातित्व का कारण रसमेद है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सर्वधातिपना, देशधातिपना और शुभत्व, अशुभत्व जीव के अध्यक्षसायों के अनुसार कर्मप्रकृतियों में निष्पत्ति विपाकवेदन की शक्ति, योग्यता पर आधारित है। वह इस प्रकार जानना चाहिये कि जो कर्मप्रकृतियां विपाक में अत्यन्त कटुक रसवाली होती हैं, वे अशुभ और जो प्रकृतियां जीव को प्रसोद—आलन्द में हेतुभूत रस वाली होती हैं, वे प्रकृतियां शुभ कहलाती हैं।

इसी प्रकार सर्वधातित्व और देशधातित्व के आशय को स्पष्ट करने के लिए भी रसमेद हेतु है कि जो प्रकृतियां सर्वधातिरसस्पर्शक युक्त होती हैं, वे सर्वधाति और जो कर्मप्रकृतियां देशधातिरसस्पर्शक युक्त होती हैं वे देशधाति कहलाती हैं। अथवा प्रकारान्तर से सर्वधातित्व और देशधातित्व के व्ययदेश का हेतु यह है—

‘सविसयधायभेण’—स्वविषय को धात करने की योग्यता के भेद से। अर्थात् आत्मा के ज्ञानादि गुण स्वविषय हैं, अतः जो कर्मप्रकृतियां ज्ञानादि रूप अपने विषय का सर्वथा प्रकार से धात करती हैं, वे सर्वधाति एवं जो प्रकृतियां अपने विषय के एकदेश का धात करती हैं, वे देशधाति कहलाती हैं।

उक्त शुभत्व आदि पदां के अर्थ का सारांश यह है—

जिन प्रकृतियों का विपाक दुःखदायक एवं संक्लेशभाव को बढ़ाने वाला हो वे प्रकृतियां अशुभ और मनः प्रासाद की उत्तेजक, पुण्यार्जन में प्रदूस करने वाली भावना को सबल बनाने में कारणभूत प्रकृतियां शुभ कहलाती हैं।

जीव के गुणों को पूरी तरह से बातने का जिस अनुभाग का स्वभाव है अर्थात् सर्वप्रकार से आत्मगुणप्रच्छादक कर्मों की शक्तियां सर्वधाति और विवक्षित एकदेश रूप से आत्मगुणप्रच्छादक शक्तियां देशधाति कहलाती हैं।

शुभ और अशुभ, सर्वधाति और देशधाति प्रकृतियों के नाम पूर्व में बताये जाने से यहाँ पुनः उल्लेख नहीं किया है।

इस प्रकार से अशुभ, शुभ, सर्वधाति, देशधाति पद का अर्थ जानना चाहिये। अब पहले जो रस के भेद से सर्वधातित्व-देशधातित्व का अर्थ स्पष्ट किया है, उसी सर्वधाति और देशधाति रस का स्वरूप बतलाते हैं।

### सर्व-देशधाति रस का स्वरूप

जो धाएँ इ सविसर्वं सयलं सो होइ सञ्चाइरसो ।

सो निछिछदो निदो तणुओ फलिहृभहरविमलो ॥४०॥

देसविधाइत्तणओ इयरो कडकंबलंसुसंकासो ।

विविहृहुचिद्दभरिओ अप्पसिषोहो अविमलो य ॥४१॥

**गाथार्थ**—जो—जो, धाएँ—धात करता है, सविसर्व—अपने विषय को, सयल—पूर्ण रूप से, सो—वह, होइ—है, सञ्चाइरसो—सर्वधाति रस, सो—वह, निछिछदो—छिद्र रहित, निदो—स्निद्ध, तणुओ—पतला, महीन, फलिहृसमूह—सफटिक तथा अभ्रक की परत, विमलो—निर्मल।

देसविधाइत्तणो—देशधाति होने से, इयरो—इतर (देशधाति) कडकंबलं-सुसंकासो—कट (चटाई), कंबल, अंशुक (रेशमी काढा) के समान, विहृ-चुचिद्दभरिओ—अपेक प्रकार के छिद्रों से अपावृ, अप्पसिषोहो—अल्प स्नेह युक्त, अविमलो—निर्मलता से रहित, य—और।

**गाथार्थ**—जो रस अपने विषय को पूर्ण रूप से धात करता है, वह रस सर्वधाति कहलाता है। वह रस छिद्र रहित—निश्चिद्द, स्निद्ध, पतला, महीन और सफटिक तथा अभ्रक की परत जैसा निर्मल है।

इतर—देशधाति होने से कट (चटाई), कंबल और अंशुक—

रेशमी वस्त्र के समान, अनेक प्रकार के छिद्रों में व्याप्त, अल्प स्वेह युक्त और निर्मलता से रहित होता है।

**विशेषार्थ**—उक्त दो गाथाओं में सर्वधाति और देशधाति रस का स्वरूप उद्योग्य उपमेय पदार्थों की उपमा द्वारा स्पष्ट किया है। सर्व-प्रथम सर्वधाति रूप रस के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं—

जो रस ज्ञानादि-विषय को पूर्णतया आदृत करता है, जात करता है, समग्र रूप से स्वविषय को जानने आदि रूप कार्य को सिद्ध करने में असमर्थ करता है अर्थात् जिसके कारण ज्ञानादि गुण जानने आदि रूप कार्य सिद्ध न कर सके, वह रस सर्वधाति कहलाता है। यहाँ रस शब्द से केवल रस नहीं परन्तु रसस्पर्धकों को ग्रहण किया है। जिसका स्पष्टीकरण आये किया है।

अब इसी लक्षण को उपमा रूपक द्वारा स्पष्ट करते हैं कि तत्त्वे के बर्तन के समान निश्चिन्द्र—छिद्ररहित, भी आदि के सहश अतिशय स्मृति—चिकना, दाख आदि की तरह अत्यन्त पवले—महीन प्रदेशों से उपचित—बना हुआ और स्फटिक अथवा अभ्रक की परत जैसा निर्मल होता है।

इस प्रकार से सर्वधाति रस का स्वरूप बतलाने के पदचारू अब देशधाति रस—देशधाति-रसस्पर्धकों के समूह का स्वरूप स्पष्ट करते हैं—

इतर देशधाति रस अपने विषय के एकदेश का जात करने वाला होने से देशधाति कहलाता है—‘देशविद्याइत्तणओ इयरो’ और वह अनेक प्रकार से छोटे-बड़े, सूक्ष्म-सूक्ष्मतर छिद्रों से व्याप्त है। जिसको इस प्रकार की उपमाओं द्वारा बतलाया है कि कोई बांस से निर्मित चटाई के समान अतिस्थूल संकड़ों छिद्रों से युक्त होता है, कोई कंबल की तरह मध्यम संकड़ों छिद्र वाला और कोई तथाप्रकार के सुकोमल रेशमी वस्त्र के अत्यन्त सूक्ष्म—बारीक महीन छिद्रों युक्त होता है—

‘कड़कंबलं सुसंकासो विविहबहुशिद् भरिओ’ तथा ‘अप्यसिणोही’—अल्प स्नेहाविभागों का समुदाय रूप एवं ‘अविमलो’—निर्मलता से रहित होता है।

यहाँ सर्वधाति और देशधाति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए जिन पदार्थों की उपमा दी है और रस शब्द का प्रयोग किया है, उसका स्फटीकरण इस प्रकार जानना चाहिए कि रस का अर्थ रसस्पर्धक है। क्योंकि रस गुण है और वह गुणी परमाणु के बिना नहीं रह सकता है। सर्वधाति रसस्पर्धक तांबे के पात्र के समान निश्चिद्र होते हैं। जिसका अर्थ यह हुआ कि जैसे तांबे के पात्र में छिद्र नहीं होते हैं और प्रकाशक वस्तु के आगे उसे रख दिया जाये तो उसका किञ्चित्-प्रकाश—श्लकमात्र प्रकाश बाहर नहीं आता है। उसी प्रकार सर्वधाति रसस्पर्धकों में क्षयोपशम्श रूप छिद्र नहीं होते हैं, तब भी उसको भेद कर कुछ न कुछ प्रकाश बाहर आता है तथा धृतादि की तरह स्तिर्घ होने के द्वारा यह स्पष्ट किया है कि सर्वधाति रसस्पर्धक अति विकल्पादीय होने से अल्प होते हुए अधिक कार्य कर सकते हैं तथा जैसे द्राक्षा (दाल) अल्प प्रदेशों से बनी हुई होने पर भी तृप्ति रूप कार्य करने में समर्थ है, उसी प्रकार सर्वधाति प्रकृतियों को अल्पदलिक प्राप्त होने पर भी वे दलिक उस प्रकार के तीव्र रसवाले होने से जानादि गुणों को आवृत करने रूप कार्य करने में समर्थ हैं तथा स्फटिक के समान निर्मल कहने का कारण यह है कि किसी वस्तु के आगे स्फटिक रखा हुआ हो तब भी उसके आर-पार जैसे उस वस्तु का प्रकाश आता है, उसी प्रकार सर्वधाति रसस्पर्धकों में जड़ चैतन्य का विभाग स्पष्ट रूप से भालूम पड़े ऐसा प्रकाश प्रकट दिखता है। किन्तु देशधाति-रसस्पर्धक ऐसे नहीं होते हैं। उनमें क्षयोपशम्श रूप छिद्र अवश्य होते हैं। यदि क्षयोपशम्श रूप छिद्र न हों तो उस कर्म का भेदन करके प्रकाश बाहर न आये। इसीलिये उन्हें अनेक प्रकार के छिद्रों से व्याप्त कहा है तथा उन्हें अल्प स्नेह बाला कहने का कारण यह है कि उनमें सर्वधाति रस

जितनी शक्ति नहीं होती है, जिससे उनकी अधिक दलित दागत होते हैं, एवं वह रस और पुद्गल दोनों मिलकर कार्य करते हैं तथा उन्हें अनिर्भय कहने का कारण यह है कि उनका भेदन करके प्रकाश बाहर नहीं आ सकता है।

देशधाति रसस्पर्धकों के लिये जो बांस की चटाई आदि की उपमा भी है—वह साथेक है। जैसे उनमें बड़े, मध्यम और सूक्ष्म अनेक छिद्र होते हैं उसी प्रकार किसी में तीव्र क्षयोपशम, किसी में मध्यम और किसी में अल्प क्षयोपशम रूप छिद्र होते हैं।

इस प्रकार से सर्वधाति और देशधाति रसस्पर्धकों का स्वरूप जानना चाहिए। प्रसंगोपात्त अब प्रतिपक्षी रूप से प्रतीत होने वाले अधाति रस का स्वरूप बतलाते हैं—

**जाण न विसओ घाइत्तण्मि ताण्डि सव्वधाइरसो ।**

**जायद घाइसगासेण चोरया वेह चोराण ॥४२॥**

**शास्त्रार्थ—**अ१०—जिनका, न—नहीं, विसओ—विषय, घाइत्तण्मि—धातिरूप, ताण्डि—उतका भी, सव्वधाइरसो—सर्वधाति रस, जायद—होता है, घाइसगासेण—धातिकर्मी के संसर्ग से, चोरया—चोरपना, चोरत्व, वेह चोराण—जैसे यहाँ चोर नहीं होने पर भी अचोरों को।

**गाथार्थ—**जिन प्रकृतियों का धातिरूप कोई विषय नहीं है किन्तु जैसे चोर नहीं होने पर भी अचोरों के लिये चोरों के साथ सम्बन्ध होने से चोरत्व का व्यपदेश होता है, उसी प्रकार सर्वधाति प्रकृतियों के संसर्ग से उनमें सर्वधाति रस होता है।

**विशेषार्थ—**गाथा में अधाति प्रकृतियों की विशेषता, उनमें प्राप्त रस का स्वरूप और उसका कारण बतलाया है कि इन अधाति प्रकृतियों का साक्षात् आत्मगुणों को धात नहीं करने से धातित्व की हृष्टि से कोई भी विषय नहीं है—‘जाण न विसओ घाइत्तण्मि’। यानि जो कर्मप्रकृतियाँ जीव के ज्ञानादि किसी भी मुण का धात नहीं करती हैं ऐसीने ऐसी प्रकृतियों का भी सर्वधाति प्रकृतियों के संसर्ग से सर्वधाति

रस होता है—‘ताणपि सब्दवाइरसो’। जो एक विलभय प्रकार का है। क्योंकि केवल आति प्रकृतियों के सम्पर्क से इन अधाति प्रकृतियों का रसविपाक देखा जाता है। ऐसे कि लोक में सबल के साथ रहने वाला निर्बल भी स्वयं अपने में धामता नहीं होने पर भी अनन्त फाँसि का प्रदर्शन करता है, उसी प्रकार अधाति कर्मप्रकृतियाँ भी सर्वधाति प्रकृतियों के संसर्ग से सल्लहश अपना विपाक वेदन करती हैं।

ग्रन्थकार आचार्य ने उत्तर दण्डान्त के समकक्ष एक और दण्डान्त दिया कि ‘चोरथा वेह चोराण’—अर्थात् जैसे कोई स्वयं चोर नहीं है परन्तु चोर के संसर्ग से उसे भी चोर कहा जाता है, उसी प्रकार अधाति प्रकृतियाँ स्वयं अधाति होने पर भी धाति के सम्बन्ध से धाति-पने को प्राप्त होती हैं। धातिकर्म के सम्बन्ध बिना अधाति कर्मप्रकृतियाँ आत्मा के किसी गुण का घात नहीं करती हैं।

अब इसी प्रसंग में यद्यपि कथायें सर्वधाति हैं, लेकिन कथाय होने पर भी संज्वलनकथायचतुष्क और कथाय की उत्तेजक, सहकारी तदनोकथायों को देशधाति मानने के कारण का विवार करते हैं।

संज्वलनकथायचतुष्क और नोकथायों को देशधाति मानने का कारण

धाइखओवसमेण सम्बरित्ताइं जाइं जीवस्स ।

ताणं हण्टिं देसं संजलणा नोकसाया य ॥४३॥

शब्दार्थ— धाइखओवसमेण—सर्वधाति भीहनीयकर्म के क्षयोपशम द्वारा, सम्बरित्ताइं—सम्यक्त्व और चारित्र, जाइं—प्राप्त होते हैं, जीवस्स—जीव की, ताण—उनके, हण्टिं—घात करती हैं, देसं—एकदेश की, संजलणा—संज्वलन, नोकसाया—नोकथायें, य—और।

शब्दार्थ—सर्वधाति भीहनीयकर्म के क्षयोपशम द्वारा जीव को जो सम्यक्त्व और चारित्र प्राप्त होते हैं, संज्वलन और नोकथायें उनके एकदेश को घात करती हैं।

**विशेषार्थ—** संज्ञलनचतुर्का और नव नोकषायों को देशधाति मानने का कारण यह है कि मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीचतुर्का आदि सर्वधाति बारह कषायों का क्षयीपशम होने पर जीव को जो सम्बन्धक एवं चारित्रयुण प्राप्त होते हैं, उनके एकदेश की विपाकोदय को प्राप्त संज्ञलन क्रोधादि और हास्यादि नोकषायें धातु करती हैं। अथवा उनमें अतिचार उत्पन्न करने लगे मात्र मलिनता उत्पन्न करती हैं किन्तु सर्वथा उनका नाश नहीं करती है। जिससे संज्ञलनचतुर्क और नोकषायें देशधाति हैं। इसी प्रकार से ज्ञान, दर्शन और दानादि लक्ष्य के एकदेश का धातु करने वाली हीने से मतिज्ञानावरण आदि प्रकृतियाँ देशधाति समझना चाहिए।

इस प्रकार से शुभ, अशुभ और सर्वधाति-देशधाति-अधाति पद का अर्थ और प्रसंगानुसार यथायोग्य सम्बन्धित विषयों का कथन करने के पश्चात् अब क्रम-प्राप्त परावर्तमान और अपरावर्तमान पद का अर्थ बतलाते हैं।

### परावर्तमान-अपरावर्तमान पद का अर्थ

**विणिवारिय जा गच्छइ वंधं उदयं च अन्नपग्नीए।**

**सा हु परियस्तमाणी अणिवारेति अपरियता ॥४४॥**

**शब्दार्थ—** विणिवारिय—विनिवार्य-रोककर, आ—जो, गच्छइ—प्राप्त होती है, वंड—वंध, उदय—उदय, च—और, अथवा, अन्नपग्नीए—अन्य प्रकृतियों के, सा—वह, हु—निश्चय ही, परियस्तमाणी—परावर्तमान, अणिवारेति—निष्करण नहीं करती, रोकती नहीं है, अपरियता—अपरावर्तमान।

**गाथार्थ—** निश्चय ही जो प्रकृति अन्य प्रकृतियों के वंध अथवा उदय को रोककर वंध अथवा उदय को प्राप्त होती है, उसे परावर्तमान और जो नहीं रोकती है उसे अपरावर्तमान कहते हैं।

**विशेषार्थ—गाथा में परावर्तमान और अपरावर्तमान उदय की व्याख्या की है—**

जो प्रकृति अन्य प्रकृति के बंध अथवा उदय को रोककर स्वयं बंध अथवा उदय को प्राप्त हो अर्थात् अन्य प्रकृतियों के बंध अथवा उदय काल में जीव के अध्यवस्थायों के नियमित ऐसे जिल प्रकृति का बंध अथवा उदय होने लगे और व्यवहार अथवा उदयमान प्रकृति का बंध उदय रुक जाये, ऐसी वह बंध, उदय को प्राप्त होने वाली प्रकृति परावर्तमान प्रकृति कहलाती है। सब मिलाकर ऐसी प्रकृतियों इक्यानवै हैं—

निद्रापंचक, साता-असातावेदनीय, सोलह कषाय, वेदात्मिक, हास्य, रति, अरति, शोक, आयुचतुष्टय, मतिचतुष्टय, जातिपंचक, औदारिक-द्विक, वैकियद्विक, आहारकद्विक, संहननषट्क, संस्थानषट्क, अनुपूर्वी-चतुष्टय, विहायोगातिद्विक, आतपनाम, उच्चोतनाम, असदशक, स्थावर-दशक, उच्चगोचर और नीचगोचर।

इन प्रकृतियों को परावर्तमान कहने का कारण यह है—

सोलह कषाय और पांच निद्रा, ये इकीस प्रकृतियां धूबंधिनी होने से पुगपन एक साथ ही बंधती हैं, परस्पर स्वजातीय प्रकृतियों के बंध को रोककर तो नहीं बंधती है, लेकिन अपने उदयकाल में स्वजातीय अन्य प्रकृतियों के उदय को रोककर उदय को प्राप्त होती हैं अर्थात् अन्य स्वजातीय प्रकृतियों के उदय को रोककर उदय में जाती हैं। इसलिये ये इकीस प्रकृतियां उदयापेक्षा परावर्तमान हैं।

स्थिर, शुभ और अस्थिर, अशुभ इन चारों प्रकृतियों का एक साथ उदय हो सकता है अतः उदय में विरोधी नहीं है। परन्तु बंधापेक्षा विरोधी हैं। स्थिर और शुभ, अस्थिर और अशुभ के बंध को रोककर और अस्थिर व अशुभ, स्थिर एवं शुभ के बंध को रोककर बंधती हैं। जिससे ये चारों प्रकृतियां बंधापेक्षा परावर्तमान हैं और शेष तिर आदि प्रकृतियां बंध एवं उदय इन दोनों में परस्पर विरोधी होने से

स्वजातीय प्रकृति के बंध और उदय दोनों को रोककर बंध और उदय को प्राप्त होने के कारण बंध और उदय दोनों इष्टियों से परावर्तमान हैं।

सम्यक्त्व और सम्यग्‌मिश्यात्व ये दो प्रकृतियाँ भी परावर्तमान हैं। लेकिन उदयापेक्षा किमतु बंध अथवा बंधोदयापेक्षा नहीं। क्योंकि इनका बंध होता ही नहीं है। इसलिये उक्त इकानवै प्रकृतियों के साथ इन दो प्रकृतियों को मिलाने पर कुल तेरामवै प्रकृतियाँ परावर्तमान जानना चाहिए।

प्रकृतियों की परावर्तमानता के तीन रूप हैं—बंध—बंध की अपेक्षा, उदय—उदय की अपेक्षा और बंध—उदय (उभय) की अपेक्षा। कुछ प्रकृतियाँ ऐसी हैं जो अन्य के बंध को रोककर स्वयं बंधने लगती हैं। कुछ प्रकृतियाँ ऐसी हैं, जिनके उदयकाल में अन्य स्वजातीय प्रकृतियों का उदय रुक जाता है और कुछ दूसरी स्वजातीय पर प्रकृतियों को रोककर उदय में आती हैं। इन तीनों प्रकार की प्रकृतियों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

परावर्तमान प्रकृतियों से विपरीत प्रकृतियों अपरावर्तमान कहलाती है। ऐसी प्रकृतियाँ उनसीस हैं, यथा—जानावरणपञ्चक, अन्तरायपञ्चक, दर्शनावरणचतुष्क, पराघात, तीर्थकर, उच्छ्रवास, मिश्यात्व, भय, जुगुष्मा और नामकर्म की ध्रुवबंधिनी नवक। ये उनसीस प्रकृतियों बंध और उदय के आश्रय से अपरावर्तमान हैं। क्योंकि इन प्रकृतियों का बंध या उदय बंधनेवाली या वेद्यमान शेष प्रकृतियों के द्वारा घात नहीं किया जा सकता है। अन्य प्रकृतियों के बंध और उदय को रोके बिना इनका बंध, उदय होता है।

इस प्रकार से परावर्तमान, अपरावर्तमान फद का अर्थ जानभा चाहिए। अब पूर्व में बताये गये विषाक्तापेक्षा प्रकृतियों के चार प्रकारों की व्याख्या करते हैं।

## विपाकापेक्षा प्रकृतियों की व्याख्या

**दुष्विहा विवागओ पुण हेउविवागाउ रसविवागाउ ।**

**एककेकका वि य चउहा जओ च सहो विभिंगं ॥४५॥**

**शब्दार्थ—**दुष्विहा—दो प्रकार की, विवागओ—विपाकापेक्षा, पुण—पुनः, हेउविवागाउ—हेतुविपाका, रसविवागाउ—रसविपाका, एककेकका—प्रत्येक, वि—भी, य—और, चउहा—चार प्रकार की, जओ—क्षेत्रिक, च सहो—च शब्द के, विभिंगं—विकल्प से ।

**गाथार्थ—**विपाकापेक्षा प्रकृतियाँ दो प्रकार की हैं—हेतु-विपाका और रसविपाका और ये भी प्रत्येक चार प्रकार की हैं ; च शब्द के विकल्प से प्रत्येक के इन चार प्रकारों का व्यहण समझना चाहिये ।

**विशेषार्थ—**अनुभव करने की विपाक कहते हैं । संसारी जीव की कर्म अपने-अपने स्वभाव का अनुभव अपनी-अपनी शक्ति के अनुरूप तथा किसी न किसी तिमिस के माध्यम से करते हैं । इन्हीं दोनों दृष्टियों से विपाकापेक्षा कमों के दो प्रकार हो जाते हैं । इन्हीं का व्यव्यक्तार आचार्य ने गाथा में उल्लेख किया है—

**'दुष्विहा विवागओ' अर्थात् विपाकापेक्षा प्रकृतियों के दो प्रकार हैं—'हेउविवागाउ रसविवागाउ'—हेतुविपाका और रसविपाका । उनमें से हेतु की प्रवानता से यानी पुदगलादि रूप हेतु के आश्रय से जिन प्रकृतियों का विपाक—फलानुभव होता है, वे प्रकृतियाँ हेतुविपाका और रस की मुख्यता यानी रस के आश्रय से निर्दिश्यमान विपाक जिस प्रकृति का हो वे प्रकृतियाँ रसविपाका कहलाती हैं ।**

इन पूर्वोक्त दोनों प्रकार की प्रकृतियों में से पुनः एक-एक—प्रत्येक के भी चार-चार प्रकार हैं—‘एककेकका वि य चउहा’ । उनमें से पुदगल, क्षेत्र, भव और जीव रूप हेतु के भेद से हेतुविपाका प्रकृतियों के चार

प्रकार हैं। वे इस प्रकार—पुद्गलविषयाका, क्षेत्रविषयाका, भवविषयाका और जीवविषयाका। इसी प्रकार चार, तीन, दो और एक स्थानक रस के भेद से रसविषयाका प्रकृतियों के भी चार प्रकार हैं—यथा चतुरस्थानक रसवाली, त्रिस्थानक रसवाली, द्विस्थानक रसवाली और एकस्थानक रसवाली।

हेतुविषयाका और रसविषयाका प्रकृतियों के चार-चार प्रकारों का स्वरूप यथाप्रसंग पूर्व में बताया जा चुका है कि कौन-कौनसी प्रकृतियां पुद्गलविषयाका, क्षेत्रविषयाका आदि हैं तथा एकस्थानक रस आदि भेदों का स्वरूप, किन प्रकृतियों का कितना रस बंध होता है इत्यादि कथन पूर्व में विशेष स्पष्टता के साथ किया जा चुका है। अतः वह सब वार्ता से समझ लेना चाहिए।

**प्रश्न**—पूर्व में द्वार गाथा में यह तो कहा नहीं था कि विषयक की अपेक्षा प्रकृतियों के दो प्रकार हैं? तो फिर यहाँ उनका वर्णन क्यों किया है?

**उत्तर**—उपर्युक्त प्रश्न योग्य नहीं है एवं 'नहीं कहा' यह कथन ही असिद्ध है। क्योंकि द्वारों के नामोलेख के प्रसंग में 'पगई य विवागओ अउहा' पद में प्रकृति शब्द के अनन्तर आगत 'य—य' शब्द विकल्प का बोधक है और उस विकल्प का यह आशय हुआ कि विषयकवा: प्रकृतियां चार प्रकार की हैं अथवा 'अन्यथा' 'अन्य प्रकार से' भी हैं और इस अन्य प्रकार से के संकेत द्वारा बताया है कि हेतु और रस के भेद से प्रकृतियों के दो प्रकार हैं।

इस प्रकार विषयकापेक्षा प्रकृतियों के प्रकारों की जानना चाहिये। उनमें से अब पहले हेतुविषयाका प्रकृतियों के सम्बन्ध में विशेष विचार करते हैं।

**हेतुविषयाका प्रकृतियों सम्बन्धी वक्तव्य**

जा जं समेच्च हेतुं विवागउदयं उवेति पगईओ ।

ता तच्चिवागसन्ना सेसभिहाणाऽ लुगमाऽ ॥४६॥

**शब्दार्थ—** जा—जो, जं—जिस, समेच्छ—प्राप्त करके हेतु को, विद्यायउदय—विद्याकोदय को, उद्येति—प्राप्त होती है, प्रकृतियो—प्रकृतियाँ, सा—वे, समिहाणसन्ना—उस विपाक की संज्ञावाली, सेसभिहाणाइ—वेष अस्तित्वान—नाम, सुगमाइ—सुगम ।

**गाथार्थ—** जो प्रकृतियों जिस हेतु के माध्यम से विपाकोदय को प्राप्त होती है वे प्रकृतियाँ उस विपाक संज्ञा वाली होती हैं । शेष नाम सुगम हैं ।

**विशेषार्थ—** गाथा में प्रकृतियों के हेतुविपाक कहने के सूत्र—कारण का संकेत किया है । द्रव्य, क्षेत्र, भव और जीव, ये विपाक करने के आर सहचारी माध्यम—हेतु हैं । इसी से वे प्रकृतियाँ उस-उस नाम वाली कहलाती हैं । जैसे कि—

संस्थान, संहनन नामकर्मादि प्रकृतियाँ औदारिकशरीर आदि रूप पुदगलों को प्राप्त करके विपाकोदय को प्राप्त होती है, जिससे वे प्रकृतियाँ पुदगलविपाक कहलाती हैं । जार आनुपूर्वनिमकर्म विग्रह-गतिरूप क्षेत्र के आश्रय से उदय में आती है, इसीलिए वे क्षेत्रविपाक कहलाती हैं, इत्यादि ।

'सेसभिहाणाइ सुगमाइ' अर्थात् शेष नाम श्रुतसत्ताका, अश्रुक-सत्ताका इत्यादि नाम सुगम हैं । अतः उस-उस नाम से उन प्रकृतियों को जानने में कठिनाइ नहीं होने से यहाँ उनका विशेष विचार नहीं करते हैं ।

इस प्रकार से प्रकृतियों के वर्गीकरण की संज्ञाओं के नामकरण को हठिट को बतलाने के बाद अब हेतुविपाक के उक्त लक्षण का आश्रय लेकर कुछ हेतुविपाक प्रकृतियों के बारे में जिजासु द्वारा प्रस्तुत प्रश्नों का समाधान करते हैं ।

### पुदगलविपाकित्व विषयक समाधान

अरहरईण उदओ किन्तु भवे पोगलाणि संयष्ठ ।

अप्युद्देहि वि किन्तो एवे कोहाइयाणवि ॥४७॥

**प्रथमार्थ**—अरहरहिं—अरति और रति मोहनीय का, उदय—उदय, किन्तु—क्या नहीं, भवे—होता है, पोगलालाजि—पुदगलों के आश्रय को, संपर्य—प्राप्त करके, अ-पुदगले—स्पर्श बिना; वि—भी, किञ्चो—क्या नहीं, एवं—इसी प्रकार से, कोहुङ्कारण—कोधादिक के लिए, वि—भी।

**गाथार्थ**—क्या अरति और रति मोहनीय का उदय पुदगलों के आश्रय को प्राप्त करके नहीं होता है ? पुदगलों के स्पर्श बिना भी क्या उनका उदय नहीं होता है ? इसी प्रकार से कोधादिक का भी समझना चाहिये।

**विशेषार्थ**—पूर्व गाथा में कहे गये—‘पुदगल रूप हेतु को प्राप्त करके जो प्रकृतियाँ विपाकोदय को प्राप्त होती हैं वे पुदगलविपाका प्रकृतियाँ हैं’ को आधार बनाकर जिज्ञासु प्रश्न पूछता है—

**प्रश्न**—रतिमोहनीय और अरतिमोहनीय का उदय क्या पुदगल रूप हेतु के आश्रय से नहीं होता है ? अर्थात् उन दोनों का उदय भी पुदगलों के साध्यम को प्राप्त करके होता ही है। जैसे कि कंटकादि पुदगलों के संसर्ग से अरति का और पुष्प, माला, चंदन आदि के सम्बन्ध—स्पर्श से रतिमोहनीय का विपाकोदय होता है। इस प्रकार पुदगलों को प्राप्त करके दोनों का उदय होने से उन दोनों को पुदगलविपाका मानना चाहिये। किन्तु जीवविपाका कहना थोथ्य नहीं है।

**उत्तर**—ऐसा नहीं है। क्योंकि ‘अप्पुद्दूहि वि किञ्चो’ पुदगलों के सम्बन्ध बिना—स्पर्श हुए बिना क्या रति-अरति मोहनीय का उदय नहीं होता है ? होता है। अर्थात् पुदगलों के साथ स्पर्श हुए बिना भी उनका उदय होता है। जैसे कि कंटकादि के साथ सम्बन्ध—संस्पर्श हुए बिना भी प्रिय-अप्रिय वस्तु के दर्शन और स्मरणादि के द्वारा रति, अरति का विपाकोदय देखा जाता है। अतः रति और अरति मोहनीय पुदगलविपाकी प्रकृतियाँ नहीं हैं। क्योंकि पुदगलविपाका प्रकृतियाँ तो कही कही जायेगी, जिनका पुदगल के साथ सम्बन्ध हुए बिना उदय होता ही नहीं है। लेकिन रति और अरति मोहनीय प्रकृतियाँ ऐसी

नहीं हैं। उनका विपाक पुदगलों के संसर्ग से भी होता है और संसर्ग हुए बिना भी होता है। इसलिये पुदगलों के लाभ व्यभिचार होने से रति-अरति जोहनीय का पुदगलविपाकित्व सिद्ध नहीं होता है, किन्तु वे दोनों जीवविपाक ही हैं।

इसी प्रकार से क्रोधादि के सम्बन्ध में भी पूर्वपक्ष की युक्तियों का निराकरण करके उनका 'जीवविपाकित्व सिद्ध करना चाहिये—एवं कोहाइयाणवि'। जैसे कि किसी के तिरस्कार करने वाले शब्दों को सुनकर क्रोध का उदय होता है और शब्द पौदगलिक हैं। इसलिये यदि कोई कहे कि क्रोध का उदय भी पुदगलों के आश्रय से होता है, अतः वह पुदगलविपाकी है। तो प्रति-प्रश्न के रूप में उसका उत्तर देते हुए पूछो कि स्मरणादि द्वारा पुदगलों का सम्बन्ध हुए बिना भी क्या उनका विपाक नहीं देखा जाता है? अतः पुदगलों के साथ व्यभिचार आने से रति, अरति की तरह क्रोधादिको भी जीवविपाकी जानना चाहिये।

इस प्रकार से जीवविपाकी प्रकृतियों को पुदगलविपाकी नहीं मानने के कारण को स्पष्ट करने के बाद अब यह स्पष्ट करते हैं कि जीवविपाकी प्रकृतियाँ भवविपाकी भी क्यों नहीं हैं?

### भवविपाकित्वविषयक समाधान

आउब्ब भवविवागा मई न आउस्स परभवे जम्हा ।

नो सब्बहा वि उदओ गईण पुण संकमेणतिथि ॥४८॥

**शब्दार्थ**—आउब्ब—आयु की तरह, भवविवागा—भवविपाकी, मई—गतियाँ, न—नहीं, आउस्स—आयु का, परभवे—परभव में, जम्हा—इस कारण, मो—नहीं, सब्बहा—पूर्णरूप से,—किसी भी प्रकार से, वि—वी, उदओ—उदय, गईण—गतियों का, पुण—पुनः, संकमेणतिथि—संक्रम से होता है।

**गाथार्थ**—आयु की तरह गतियाँ भवविपाकी नहीं हैं। आयु का परभव में किसी प्रकार से उदय संभव नहीं है, किन्तु गतियों

का तो संक्रम के द्वारा उदय होता है। इसलिये आयु की तरह गतियां भवविषयाकी नहीं हैं।

**दिशेचार्य**—गाथा में जिज्ञासु के एक दूसरे प्रश्न का समाधान किया है। प्रश्न इस प्रकार है—

जिस भव की आयु बंध का किया हो तो उस भव में ही उस आयुकर्म का विषाकोदय होता है अन्य भव में नहीं होता है। जैसे कि मनुष्यायु का बंध होने पर उसका विषाकोदय देव आदि अन्य भवों में नहीं होता है और यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है। उसी प्रकार गतिनामकर्म का भी तत् भव में उदय देखा जाता है। इसलिये गति को भी आयु की तरह भवविषयाकी मानना चाहिये। फिर उसे जीवविषयाकी क्यों कहा जाता है?

इस प्रश्न का समाधान करते हुए ग्रन्थकार आचार्य बतलाते हैं—  
**'आउब्ब भवविवाग'** अर्थात् आयुकर्म ही भवविषयाकी है किन्तु आयु की तरह '**गई न**' गतियां भवविषयाकी नहीं हैं। क्योंकि जिस भव की आयु का बंध किया हो, उसके सिवाय अन्य किसी भी भव में उस आयु का विषाकोदय द्वारा उदय नहीं होता है और न संक्रम द्वारा—स्तिवृक्संक्रम द्वारा भी उदय होता है। जिस गति की आयु लांबी हो उस गति में ही उसका उदय होता है। इसलिये अपने निश्चित भव के साथ अव्यभिचारी होने से आयु को भवविषयाकी कहा जाता है। परन्तु '**गईण पुण संकमेणस्थ**' अर्थात् गतियों का तो अपने भव के सिवाय अन्यके भी संक्रम—स्तिवृक्संक्रम द्वारा उदय होता है। जिससे अपने भव के साथ अव्यभिचारी होने से वे भवविषयाकी नहीं हैं।

उक्त समाधान का लात्पर्य यह है कि आयु का स्वभव में ही उदय होता है। इसलिये आयुकर्म भवविषयाकी ही है किन्तु गतियों का तो स्वभव में विषाकोदय द्वारा और परभव में स्तिवृक्संक्रम द्वारा भी इस तरह स्व और पर दोनों भवों में उदय संभव होने से वे भवविषयाकी नहीं मानी जाती हैं।

इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि न तो भवविषयाकी प्रकृतियां जीवविषयाकी हो सकती हैं और न जीवविषयाकी प्रकृतियां भवविषयाकी होती हैं। किन्तु उन-उनकी मयदा के अनुसार जीव यथायोग्य रीति से उन प्रकृतियों का विपाक बेदन करता है।

इस प्रकार से भवविषयाकी प्रकृतियों सम्बन्धी जिज्ञासु के प्रश्न का समाधान करने के पश्चात् अब क्षेत्रविषयाक का आघार सेकर जिज्ञासु द्वारा प्रस्तुत प्रश्न का समाधान करते हैं।

### क्षेत्रविषयाकित्वविषयक समाधान

अणुपुरुषीण उदयों कि संकरणेण नत्यं संतैवि ।

जह खेत्तहेत्तणो ताण न तह अन्ताण सविवागो ॥५६॥

**शब्दार्थ**—अणुपुरुषीण—आनुपूर्वियों का, उदयो—उदय, कि—क्षय, संकरणेण—संक्रम द्वारा, नत्य—नहीं होता है, संतै—होता है, वि—भी जह—यथा, खेत्तहेत्तणो—क्षेत्रहेतुक लेननियितक, ताण—उनका, न—नहीं तह—तथा, अन्ताण—अन्य प्रकृतियों का, सविवागो—स्वविषयाक।

**गाथार्थ**—क्षय आनुपूर्वियों का उदय संक्रम द्वारा नहीं होता है ? होता है—संक्रम द्वारा उदय होता है। परन्तु जिस प्रकार से उनका विपाक क्षेत्रहेतुक है उसी तरह से अन्य प्रकृतियों का नहीं है, इसलिये आनुपूर्वी प्रकृतियों क्षेत्रविषयाकी हैं।

**विशेषार्थ**—गाथा में आनुपूर्वी नामकर्म को क्षेत्रविषयाकी ही मानने के कारण को स्पष्ट किया है।

जिज्ञासु प्रश्न पूछता है कि गति और आनुपूर्वियों में संक्रम की समानता है। अतः गति की तरह आनुपूर्वियों को भी जीवविषयाकी मानना चाहिये। क्योंकि गतिनामकर्म का अपने-अपने भव के सिवाय अन्य भव में भी संक्रम द्वारा उदय होता है और इसलिये अपने भव के साथ व्यभिचारी होने के कारण उनको भवविषयाकी न मानकर जीव-

विद्याकी कहा है। उसी प्रकार स्तिवृक्षसंक्रम के द्वारा स्वयोग्य क्षेत्र के सिवाय अन्यथा भी आनुपूर्वीनामकर्म का उदय पाया जाता है, जिससे स्वक्षेत्र के साथ व्यभिचारी होने के कारण आनुपूर्वियों को क्षेत्रविद्याकी कहना योग्य नहीं है। परन्तु जीवविद्याकी ही कहना आहिये।

उक्त विज्ञातर का समाधान करते हुए प्रन्थकार आचार्य बतलाते हैं कि प्रश्न मुक्तिसंगत है और हम मानते हैं कि—

आनुपूर्वियों का भी संक्रम द्वारा स्वयोग्य क्षेत्र के सिवाय अन्यथा उदय संभव है, लेकिन जिस रीति से आकाश प्रदेशरूप क्षेत्र के निमित्त से इन प्रकृतियों का रसोदय होता है वैसा अन्य किसी भी प्रकृति का नहीं होता है। इसीलिये आनुपूर्वियों के रसोदय में आकाश प्रदेशरूप क्षेत्र की असाधारण हेतुता बतलाने के लिये ही उन्हें क्षेत्रविद्याकी माना है।

इस प्रकार मेरे क्षेत्रविद्याकित्व सम्बन्धी जिज्ञासा का समाधान करने के पश्चात् अब जीवविद्याकाशधी पर प्रश्न का समाधान करते हैं।

### जीवविद्याकित्वविषयक समाधान

संपर्य जीवकाला काओ उदयं न जंति पगईओ ।

एवमिणमोहहेऽ आसज्ज विसेसयं नत्य ॥५०॥

**शब्दार्थ**—संपर्य—प्राप्त करके, जीवकाला—जीव और काल की, काओ—कौनसी, उदय—उदय, न—नहीं, जंति—आसी है, पगईभी—प्रकृतियां, एवमिण—ऐसा ही है, ओहहेऽ—सामान्य हेतु के, आसज्ज—आशय—अपेक्षा से, विसेसयं—विशेष हेतु की अपेक्षा, नत्य—नहीं है।

**मात्रार्थ**—जीव और कालरूप हेतु को प्राप्त करके कीन सी प्रकृतियां उदय में नहीं आती हैं? अर्थात् सभी उदय में आती हैं, अतः वे सभी प्रकृतियां जीवविद्याकी हैं। (उत्तर) सामान्य हेतु की अपेक्षा से लो ऐसा ही है किन्तु विशेष हेतु की अपेक्षा ऐसा नहीं है।

**विशेषार्थ—**कर्मों का कर्ता और भोक्ता संसारी जीव है और उदयकाल प्राप्त होने पर उनका विषाक्तोदय होता है। इस सिद्धान्त का आधार लेकर जिज्ञासु प्रश्न पूछता है—

ऐसी कौन सी प्रकृतियाँ हैं कि जो जीव और काल रूप हेतु के आश्रय से उदय में नहीं आती हैं—‘उदय का ओ न जंति पगईओ’? अर्थात् सभी प्रकृतियाँ जीव और काल रूप हेतु के आश्रय से उदय में आती हैं। क्योंकि जीव और काल के बिना उदय असम्भव ही है। इसलिये सभी प्रकृतियों को जीवविषाकी ही मानना चाहिये।

ये दो काल जात्यार्थ इनकी वाचावाक करते हैं—

‘एवमिण’ ऐसा ही है, अर्थात् सामान्यहेतु की अपेक्षा तो जो कहा गया है, वैसा ही है। यानी जीव और काल के आश्रय से सभी प्रकृतियों का उदय होने से वे सब जीवविषाकी ही हैं परन्तु असाधारण—विशेष हेतु की अपेक्षा ऐसा नहीं—‘विसेसवं तत्त्वं’। क्योंकि जीव अथवा काल सभी प्रकृतियों के उदय के प्रति साधारण हेतु हैं। अतः उनकी अपेक्षा तो सभी प्रकृतियाँ जीवविषाकी ही हैं परन्तु किसी ही प्रकृतियों के उदय के लिए क्षेत्रादि भी असाधारण कारण हैं। जिससे उनकी अपेक्षा क्षेत्रविषाकी आदि का व्यवहार होता है और ऐसे व्यवहार में किसी प्रकार का दोष नहीं है।

इस प्रकार मे हेतुविषाकी प्रकृतियों के विषय में विशेष वक्तव्य जानना चाहिये। अब रसविषाकित्व सम्बन्धी विवेचन करते हैं।

### रसविषाकित्व विषयक प्रश्नोत्तर

केवलदुगस्स सुहुमो हासाइसु कह न कुण्ड अपुब्बो ।

सुभगाईणं मिच्छो किलिटुओ एगठाणिरसं ॥५१॥

**शब्दार्थ—**केवलदुगस्स—केवलट्रिक का, सुहुमो—सुखमयपरायगुणस्थानवर्ती, हासाइसु—हास्यादिक का, कह—क्षयों, न—नहीं, कुण्ड—करता है,

**अपुष्टी—** अपूर्वकरणगुणस्थान वाला, सुभगाद्यो—सुभगादि का, मिठ्ठी—  
शिष्याद्विट, किञ्चिद्भवो—खकिलाष्ट, एगडाणि—एकस्थानक, रस—रस ।

**गाथार्थ—** सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानवतीं जीव केवलद्विक का,  
हास्यादि का अपूर्वकरणगुणस्थान वाला और संक्षिलाष्ट परिणामी  
शिष्याद्विट सुभगादि का एकस्थानक रस क्यों नहीं बोधता है ?

**शिक्षोपार्थ—** गाथा में जिज्ञासु ने कलिपय प्रकृतियों के रसबंध-  
प्रकार सम्बन्धी प्रश्न प्रस्तुत किये हैं। उसमें से पहला प्रश्न यह है—

'केवलदुग्धस्तु सुहुमो' अर्थात् जैसे श्रेणि पर आरुद्ध जीव नीवे  
अनिवृत्तिवादरसंपरायगुणस्थान के संख्यात भागों के बीतमे के पद्मास्  
बति विशुद्ध परिणाम के योग से मतिज्ञानावरणादि अशुभ प्रकृतियों  
के एकस्थानपर रस का वैध करता है, उसी प्रकार इनकश्रेणि पर  
आरुद्ध जीव सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के अन्त या उपास्त्यादि समय में  
अत्यन्त विशुद्ध परिणाम के योग में केवलद्विक—केवलज्ञानावरण और  
केवलदर्शनावरण के एकस्थानक रस का वैध क्यों नहीं करता है ?  
क्योंकि केवलद्विक अशुभ प्रकृतियाँ हैं और उनके बंधकों में क्षपकश्रेणि  
पर आरोहण करने वालों में सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान वाला जीव अत्यन्त  
विशुद्ध परिणामी है। इसलिए मतिज्ञानावरणादि अशुभ प्रकृतियों की  
तरह उस केवलद्विक-आवरण का भी एकस्थानक रसबंध होना सम्भव  
है। तो फिर उसे एकस्थानक रसबंधक क्यों नहीं कहा ? किन्तु यह  
वत्ताया कि अत्यातिथल्य मात्रा में भी द्विस्थानक रस बंधता है।

दूसरा प्रश्न यह है—

'होसाइसु कह म कुण्ड अपुष्टो' अर्थात् हास्य, रति, भय और  
चूमुप्सा ये पाप प्रकृतियाँ हैं और इनके सबसे अत्य-अल्पतम रसबंधकों  
में विशुद्धि के प्रकर्ष की प्राप्त अपूर्वकरणगुणस्थानवतीं जीव हैं। अतः  
उनको एकस्थानक रसबंध क्यों नहीं होता है ? इनके बंधकों में वे ही  
अति विशुद्ध अध्यवसाय वाले हैं। क्योंकि अशुभ प्रकृतियों का जघन्यतम  
रसबंध विशुद्ध अध्यवसायों में होता है।

तीसरा प्रदन है—

मुभगाइयो मिच्छो' इत्यादि अर्थात् सुभगादि पुण्य प्रकृतियों का अतिसंक्लिष्ट परिणाम वाला मिथ्याइष्ट एकस्थानक रसबंध कर्यों नहीं करता है ? क्योंकि अतिसंक्लिष्ट परिणामों के संभव होने पर पुण्य प्रकृतियों का एकस्थानक रसबंध संभव है तो फिर पूर्व में यह क्यों कहा है कि सत्रह प्रकृतियों में ही एक, द्वि, त्रि और चतुः स्थानक रसबंध होता है और इसके सिवाय शेष रही सभी प्रकृतियों में द्वि, त्रि और चतुः स्थानक रस बंधता है ।

इस प्रकार से पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत प्रश्नकार के पूर्वोक्त तर्कों का समाधान करने हेतु अब अन्यकार आचार्य वस्तुस्थिति स्पष्ट करते हैं—

जलरेहसमकसाए विएगाठाणी न केवलदुगस्स ।

जं तणुर्यपि हु भणियं आवरणं सववघाई से ॥५२॥

सेसासुभाण विन जं खवगियराणं न तारिसा सुद्धी ।

न सुभाणपि हु जम्हा ताणं बंधो विसुज्ज्ञति ॥५३॥

**शब्दार्थ**—जलरेहसमकसाए—जलरेखा सहश कषाय द्वारा, वि—भी, एगाठाणी—एकस्थानक, न—नहीं, केवलदुगस्स—केवल द्विक का, जं—क्योंकि, तणुर्यपि—अल्पमात्र भी, हु—निश्चय ही, भणियं—कहा है, आवरणं—आवरण, सववघाई—सर्वधाति, से—उनका ।

सेसासुभाण—शेष अशुभ प्रकृतियों का, वि—भी, न—नहीं, जं—क्योंकि, खवगियराण—खपक और इसर सुभस्थान वालों के, न—नहीं, तारिसा—तादृश—वैसी, सुद्धी—सुद्धि, स—नहीं, सुभाणपि—सुभ प्रकृतियों की भी, हु—निश्चय से, जम्हा—इमलिये, ताणं—उनका, बंधो—बंध, विसुज्ज्ञति—विसुज्ज्ञ होने पर ।

**गाथार्थ**—जलरेखा सहश कषाय द्वारा भी केवल द्विक का

एकस्थानक रसबंध नहीं होता है। क्योंकि निवचय ही उन दोनों का अल्पमात्र भी आवरण सर्वधाती कहा है।

शेष अशुभ प्रकृतियों का भी एकस्थानक रसबंध नहीं होता है। क्योंकि क्षारक तात्त्व द्वारा तुणस्थान दोनों के बैसी—उस प्रकार की शुद्धि नहीं होती है और न शुभ प्रकृतियों का ही (सक्तिकृत मिथ्याहृष्टि को भी) एकस्थानक रसबंध होता है। क्योंकि उनका बंध भी कुछ फारिणामिक विशुद्धि होने पर ही होता है।

**विशेषार्थ**—जिज्ञासु द्वारा जो यह जानना चाहा है कि केवलद्विक, हास्थादि और शुभ प्रकृतियों के यथाधोग्य बंधक एकस्थानक रस क्यों नहीं बांधते हैं? उसका ग्रन्थकार आचार्य ने इन दो ग्राम्याओं में कारणों की भीमांसा करते हुए समाधान किया है।

जिज्ञासु का पहला प्रश्न है कि सूक्ष्मसंपरायमुण्डस्थानवर्ती जीव केवलद्विक-आवरण का एकस्थानक रसबंध व्यों नहीं करता है? आचार्य-श्री इसका समाधान करते हैं—

**'जलरेहसमकसाए् दि'**—अर्थात् अमस्तामुबंधी आदि कषायों के चार प्रकारों के लिए पूर्व में जो चार तरह की उपमायें दी गईं हैं। उनमें संज्वलन कषायों के लिये जलरेखा की उपमा दी है। अतः जलरेखा के समान संज्वलनकषाय का उदय होने पर ही केवलद्विक-आवरण—केवल-ज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण का एकस्थानक रसबंध नहीं हो सकता है। इसका कारण यह है कि उन दोनों का स्वल्प रस रूप आवरण भी सर्वधाति होता है। जैसे कि सर्पविष की अत्यन्त मात्रा भी प्राणघातक होती है, उसी प्रकार केवलद्विक-आवरण के जघन्यपद में प्राप्त रस सर्वधाति ही समझना चाहिए और सर्वधाति रस जघन्यपद में भी द्विस्थानक ही बंधता है, एकस्थानक बंधता ही नहीं है। इसी कारण कहा है कि केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण का एकस्थानक रसबंध होता ही नहीं—‘एगठाणी न केवलदुग्गस्स’।

दूसरा प्रश्न था कि अपूर्वकरणशुणस्थान वाला हास्यादि का एक-स्थानक रसबंध क्यों नहीं करता है ?

इसके उत्तर में बताया है—

पूर्वोक्त मतिज्ञानावरणादि सत्रह प्रकृतियों के सिवाय शेष अशुभ प्रकृतियों का एकस्थानक रसबंध सम्भव नहीं है—‘सिसासुभाण विन’। क्योंकि क्षपक जीव के अपूर्वकरणशुणस्थान में और इतर—प्रमाण, अप्रमाण संयतशुणस्थान में संज्वलन कषायों का उदय होने पर भी उस प्रकार की चुम्हि नहीं होती है—‘न तारिसा सुद्धी,’ जिससे एकस्थानक रस का बंध हो सके और जब एकस्थानक रसबंधबोध्य प्रकृति की प्राप्ति विशुद्धि अनिवृत्तिवादरसपराधशुणस्थान के संख्यात भाग बीतने के पश्चात होती है, तब मतिज्ञानावरणादि सत्रह प्रकृतियों के सिवाय अन्य किन्हीं भी अशुभ प्रकृतियों का बंध नहीं होता और जब उनका बंध ही नहीं होता है तब यह सम्भव नहीं है कि मतिज्ञानावरणादि सत्रह के सिवाय अन्य किन्हीं भी अशुभ प्रकृतियों का एकस्थानक रसबंध हो सके ।

तीसरा प्रश्न था कि संक्लिष्ट मिथ्याद्विष्ट शुभप्रकृतियों का एक-स्थानक रसबंध क्यों नहीं करता है ?

इसका समाधान किया है—

मिथ्याद्विष्ट संक्लिष्ट परिणामी जीव शुभप्रकृतियों का एकस्थानक रस बांधता ही नहीं है । यद्यपि उत्कृष्ट संक्लेश होने पर शुभ प्रकृतियों का एकस्थानक रसबंध सम्भव है, उत्कृष्ट संक्लेश के अभाव में नहीं । परन्तु शुभ प्रकृतियों का अतिसंक्लिष्ट मिथ्याद्विष्ट होने पर बंध नहीं होता है, कुछ विशुद्ध परिणाम होने पर बंध होता है । जिससे शुभ प्रकृतियों का भी जघन्यातिजघन्य द्विस्थानक रस का ही बंध होता है, एकस्थानक रस का बंध नहीं होता है ।

कदाचित् यह कहा जाये कि सप्तम नरकप्रायोध्य प्रकृतियों का बंध करने वाले अति संक्लिष्ट परिणामी मिथ्याद्विष्ट के भी वैक्षिक-

द्विक, तैजस आदि शुभ प्रकृतियों का बंध होता है, तो उस समय उसको एकस्थानक रसबंध होना क्यों नहीं माना जाये ? तो प्रत्युत्तर में समझना चाहिये कि नरकप्रायोग्य प्रकृतियों का बंध करते समय वैक्रिय, तैजस आदि जो शुभ प्रकृतियाँ बंधती हैं उनका भी तथा-स्वभाव से जघन्यपद में द्विस्थानक रसबंध ही होता है, एकस्थानक रस बंधता ही नहीं है और इसका कारण ही जीवस्वभाव ।

इस प्रकार से जिज्ञासु के तीन प्रश्नों का समाधान करने के पश्चात् अब आचार्य एक और प्रासादिक प्रश्न का समाधान करते हैं। प्रश्न और उत्तर इस प्रकार है—

उवकोसठिईअज्ञावसाणेहि...एगाणाणिओ...होही ।

सुभियाण तम्न जो ठिइअसंखगुणिया उ अणुभागा ॥४४॥

**शब्दार्थ**—उवकोस—उत्कृष्ट, ठिईअज्ञावसाणेहि—स्थितिबंध के योग्य अध्यवसायों द्वारा एगाणाणिओ—एकस्थानक, होही—होगा, सुभियाण—शुभ प्रकृतियों का, तम्न वैसा नहीं है, ऊ—क्योंकि, ठिइ—स्थिति (वैश्वाध्यवसायों से), असंखगुणिया—असंख्यत गुण, उ—ही, अणुभाग—अनुभागबंधयोग्य अध्यवसाय ।

**गायार्थ**—उत्कृष्ट स्थितिबंध के योग्य अध्यवसायों द्वारा शुभ प्रकृतियों का एकस्थानक रसबंध होगा। (उत्तर) शुभ प्रकृतियों का वैसा नहीं है। क्योंकि स्थितिबंधयोग्य अध्यवसायों से अनुभागबंधयोग्य अध्यवसाय असंख्यतगुणे हैं ।

**विशेषार्थ**—उत्कृष्ट संकलेश द्वारा उत्कृष्ट स्थितिबंध और जघन्य अनुभागबंध होता है। इसी दृष्टि को आधार बनाकर जिज्ञासु ने अपना प्रश्न उपस्थित किया है—

शुभ अथवा अशुभ सभी प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध उत्कृष्ट संकलेश में वर्तमान जीव के होता है, उत्कृष्ट संकलेश बिना नहीं होता है। जैसा कि कहा है—

‘अव्याख्यानमुक्तोसमो उत्कृष्ट संकलेसेभं ।’

सभी प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध उत्कृष्ट संकलेश द्वारा होता है ।

इसलिये जिन अध्यवसायों द्वारा शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थिति-बंध होगा, उन्हीं अध्यवसायों द्वारा उनका एकस्थानक रसबंध भी होगा । जिससे ऐसा कैसे कहा जा सकता है कि शुभ प्रकृतियों का एकस्थानक रसबंध होता ही नहीं है ?

इस तर्क का समाचान करते हुए आचार्यशी स्थिति स्पष्ट करते हैं कि जिन अध्यवसायों से शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है, उन्हीं से उनका एकस्थानक रसबंध नहीं होता है । क्योंकि ‘असंख्यगुणिया उ अणुभागा’ अर्थात् स्थितिबंधयोग्य अध्यवसायों से रसबंधयोग्य अध्यवसाय असंख्यातगुणी हैं । इसलिये उक्त कथन असंघर्ष है । इसका आशय यह हुआ कि प्रथम स्थितिस्थान से प्रारम्भ कर उसरोतर प्रति समय बढ़ते-बढ़ते कुल मिलाकर असंख्यात स्थिति-विशेष—स्थितिस्थान होते हैं और उस एक-एक स्थिति में असंख्यात रसस्पर्शक<sup>१</sup> होते हैं । इसलिये जब उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है तब प्रत्येक स्थिति में—स्थितिस्थान में जो असंख्याता रसस्पर्शकों के समूह विद्येय होते हैं, वे सभी द्विस्थानक रस बाले ही होते हैं, एकस्थानक रस के नहीं । इसी कारण उत्कृष्ट स्थितिबंध योग्य अध्यवसायों द्वारा भी शुभ प्रकृतियों का जीवस्वभाव से द्विस्थानक रसबंध ही होता है किन्तु एकस्थानक नहीं होता है ।

१. असंख्यात रसस्पर्शक होने का कारण यह है—कोई भी एक स्थितिबंध असंख्यात समय प्रमाण बंधता है, इसी प्रकार उत्कृष्ट स्थितिबंध भी असंख्यात समय प्रमाण ही बंधता है । प्रत्येक स्थितिस्थान में असंख्याता स्पर्शक होते हैं, इसीलिए उत्कृष्ट स्थिति जितने समय प्रमाण बंधती है, उससे सार्वक्षण्यात असंख्यातगुणे होते हैं ।

इस प्रकार से शुभ प्रकृतियों के उत्पानक रसबंध के कारण की स्थिट करने के बाद अब जिज्ञासु द्वारा सत्ता के सम्बन्ध में प्रस्तुत प्रश्न का समाधान कारते हैं।

### सत्ताविषयक प्रश्न का समाधान

**दुविहमिह संतकम्म धुवाधुर्वं सूहयं च सहेण ।**

**धुवसंतं चिय पदमा जओ न नियमा विसंजोगो ॥५५॥**

**शब्दार्थ—**दुविह—दो प्रकार, इह—यही, संतकम्म—कर्मों की सत्ता, धुवाधुर्वं—धूव और अधूव, सूहयं—सूचित की है—बताई है, च सहेण—च शब्द से, धुवसंतं—धूवसत्ता, चिय—अवश्य, पदमा—प्रथम, जओ—कठोकि, न—नहीं, नियमा—नियम से, विसंजोगो—विसंयोजना।

**गाथार्थ—**च शब्द द्वारा सत्ताद्वारा गाथा में जो धूव और अधूव इस तरह दो प्रकार की सत्ता बतलाई है, उसमें प्रथम कषायों (अनन्तानुर्बन्ध कषायों) की अवश्य ही धूवसत्ता है। कठोकि गुणप्राप्ति के बिना उनकी विसंयोजना नहीं है।

**विशेषार्थ—**पूर्व में (चौदहवीं गाथा की व्याख्या के प्रस्तुग में) सत्ता दो प्रकार की बतलाई है—धूवसत्ता और अधूवसत्ता। उसमें से सम्यक्त्वादि उत्तरगुणों की प्राप्ति से पूर्व सभी संसारी जीवों में जिन प्रकृतियों की निरन्तर सत्ता पाई जाती है, वे प्रकृतियां धूवसत्ता वाली कहलाती हैं। ऐसी धूवसत्ता वाली प्रकृतियां एक सौ चार हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

आनावरणपञ्चक, दर्शनावरणनवक, साता-असाता वेदनीय, मिथ्यात्व, सीलहृ कषाय, नव नोकषाय, तिर्यचट्टिक, जातिपञ्चक, औदारिकट्टिक, तंजस, कार्मण, संख्यानषट्टक, संहननषट्टक, वर्णोदिचतुष्क, विहायोगतिट्टिक, पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योग, अ गुह्लदु,

निमणिताम्, उपर्यात्, व्रसदक, स्थावरदशक, नीचशोक, अंतराष्ट्र-  
येचक ।<sup>१</sup>

इन एक सौ चार प्रकृतियों के अलावा योग प्रकृतियों अध्युवसत्ता  
वाली है। इसका कारण यह है कि सम्यक्त्वादि उत्तरगुणों की प्राप्ति  
से पूर्व भी जीवों में जिन प्रकृतियों की सत्ता किसी समय पाई जाये  
और किसी समय न पाई जाये अथवा जिनकी सत्ता कादाचित्क हो,  
उन्हें अध्युवसत्ता का कहते हैं।

उत्तर ध्रुवसत्ता और अध्युवसत्ता के लक्षण को आधार बनाकर  
जिजामु पूछता है—

प्रश्न—अनन्तानुबंधि कषायों की उद्वलना होने पर उनकी सत्ता  
का नाश हो जाता है और मिथ्यात्व के योग से पुनः उनका बंध होने  
पर वे सत्ता को प्राप्त हो जाती हैं। इसलिये उनको अध्युवसत्ता वाली  
मानना चाहिये।

उत्तर—यह कथन योग्य नहीं है। क्योंकि अनन्तानुबंधि कषायों  
की विसंयोजना सम्यक्त्वादि गुणों की प्राप्ति के बिना तो होती ही  
नहीं है, किन्तु सम्यक्त्वादि गुणों की प्राप्ति से होती है और उत्तरगुणों  
की प्राप्ति के द्वारा जिन प्रकृतियों की सत्ता का नाश होता है, वे  
प्रकृतियां अध्युवसत्तावाली नहीं हैं। अथवा उत्तरगुणों की प्राप्ति से  
होने वाला सत्ता का नाश अध्युवसत्ता के व्यपदेश का हेतु नहीं है।  
यदि उत्तरगुणों की प्राप्ति के द्वारा होने वाला सत्ता का नाश अध्युव-  
सत्ता के व्यपदेश का हेतु हो तो सभी प्रकृतियां अध्युवसत्ता के योग्य

१ यहीं जो एक सौ चार प्रकृतियां बतलाई हैं, उनमें वर्णादि चार की ही  
विवरा की है तथा बंधन और संधातन नामकर्म के भेदों की विवरा  
नहीं की है। यदि सत्तायोग्य प्रकृतियों की संख्या की अपेक्षा इनकी  
गणना की जाये तब वर्णादि चार के बंधाय बीम और बंधन, संधातन की  
पांच-पाँच प्रकृतियों की मिलाने पर कुल संख्या १३० होगी।

मानी जायेगी। क्योंकि उत्तरगुणों की प्राप्ति होने पर तो सभी प्रकृतियों की सत्ता का नाश होता है। इसीलिये अध्रुवसत्ता के लक्षण में बताया है कि उत्तरगुणों की प्राप्ति से पूर्व भी प्रत्येक जीव को जिन प्रकृतियों की प्रतिसमय सत्ता पाई जाये, उसे अध्रुवसत्ता कहते हैं। अतएव उत्तरगुणों की प्राप्ति से पूर्व तो प्रत्येक जीव को प्रतिसमय अनन्तानुबंधि कषायों की सत्ता होती है, जिससे अनन्तानुबंधि कषायें अध्रुवसत्तावाली ही हैं।

सम्यक्त्वमोहनोय, मिश्रमोहनीय, तीर्थकरनाम और आद्यारक्तिक्षिण्ये प्रकृतियाँ उत्तरगुणों की प्राप्ति के पश्चात् ही सत्ता में आती हैं। इसलिये उन प्रकृतियों की अध्रुवसत्ता स्वयंसिद्ध ही है तथा शेष वैक्रियषट्क आदि प्रकृतियाँ उत्तरगुणों की प्राप्ति से पूर्व निरन्तर सत्ता में रहें ऐसा कोई नियम नहीं है, इसलिये उनकी भी अध्रुवसत्ता समझना चाहिए।

इस प्रकार से वर्गीकरण के एक प्रकार में सकलित प्रकृतियों का संग्रीपांग विवेचन जानना चाहिये। इसी तरह एक और दूसरे प्रकार से भी कर्मसाहित्य में प्रकृतियों का वर्गीकरण किया गया है। दूसरे प्रकार से जिन वर्गों में प्रकृतियों का वर्गीकरण किया गया है, उन वर्गों के नामों का संकेत करने वाली अन्यकर्तृक दो गाथायें इस प्रकार हैं—

**अणुदयउद्दोभयबंधिणी उ उभर्बधउदयबोच्छेया ।**

**संतरउभयनिरन्तरबंधा                            उदसंकमुक्तीसा ॥का॥**

**अणुदयसंकमजेट्ठा उदएणुदए य बंधउक्तीसा ।**

**उदयाणुदयबईओ तितितिचउदुहा उ सद्वाओ ॥ख॥**

**शब्दर्थ—** अणुदयउद्दोभयबंधिणी—अनुदयबंधिणी, उदयबंधिणी और उभयबंधिणी, उ—और, उभर्बधउभयबोच्छेया—उभयबंधोदया बधयचिद्धधमाना, संतरउभयनिरन्तरबंधा—संतर, उभय और निरन्तरबंधिणी, उदसंकमुक्तीसा—उदयसंक्रमोत्कृष्टा ।

**अणुदयसंकमजेट्ठा—** अनुदयसंकमोत्कृष्टा, उदएणुदए—उदय और अनु-

इथ से, य—और, बंधुव्यवस्था—बंधोत्कृष्टा, उदयानुदयवर्षीयो—उदयवती और अनुदयवती, तितितिवद्युहा—तीन, तीन, चार और दो प्रकार की, उ—और, सव्यायी—सभी ।

**गाथार्थ**—अनुदयवंधिनी, उदयवंधिनी और उभयवंधिनी, समक, क्रम और उत्क्रम व्यवच्छिद्यमान बंधोदया, सांतर, उभय और निरन्तर बंधिनी, उदयसंकमोत्कृष्टा तथा अनुदयसंकमोत्कृष्टा, उदयबंधोत्कृष्टा और अनुदयबंधोत्कृष्टा, उदयवती और अनुदयवती, इस प्रकार से सभी प्रकृतियाँ अनुक्रम से तीन, तीन, तीन, चार और दो प्रकार की हैं ।

**विशेषार्थ**—उक्त दो गाथाओं में दूसरे प्रकार से किये गये प्रकृतियों के वर्णकरण की संज्ञाओं को बताया है । उक्त संज्ञाओं के नाम और लक्षण इस प्रकार हैं—

१ बंध की अपेक्षा कम प्रकृतियाँ तीन प्रकार की हैं—स्वानुदय-बंधिनी, स्वोदयबंधिनी और उभयबंधिनी । अपने अनुदयकाल में जिन प्रकृतियों का बंध हो, वे प्रकृतियाँ स्वानुदयबंधिनी कहलाती हैं । अपने उदय काल में ही जिनका बंध हो उन्हें स्वोदयबंधिनी और अपने उदय हीमे या न होने पर भी जिन प्रकृतियों का बंध हो उन्हें उभयबंधिनी कहते हैं ।

२ विच्छेद की अपेक्षा प्रकृतियाँ तीन प्रकार की हैं—समकव्यवच्छिद्यमान बंधोदया, क्रमव्यवच्छिद्यमान बंधोदया और उत्क्रमव्यवच्छिद्यमान बंधोदया । इनमें से जिन प्रकृतियों का बंध और उदय एक साथ विच्छेद होता है उनकी समकव्यवच्छिद्यमान बंधोदया तथा जिन प्रकृतियों का पहले बंध और पश्चात उदय विच्छेद होता है, उनकी क्रमव्यवच्छिद्यमान बंधोदया और पहले उदय और बाद में बंध इस प्रकार उत्क्रम से जिनके बंध और उदय का विच्छेद होता है, उन्हें उत्क्रमव्यवच्छिद्यमान बंधोदया प्रकृति कहते हैं ।<sup>१</sup>

<sup>१</sup> इन तीनों प्रकारों को गाथा में प्रस्तुत 'उभवंधउदयबंधेय' पद द्वारा प्रहण किया गया है ।

३ सांतर, निरस्तर और उभय बांध की अपेक्षा भी प्रकृतियों के तीन प्रकार हैं—संतुलनविधिनी, उद्याधविधिनी और निरस्तरविधिनी। इनके लक्षण यथास्थान आगे दिये जा रहे हैं।

४ उदय और अनुदय अबस्था में जिन प्रकृतियों की संक्रम से उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है, उसकी अपेक्षा दो तथा बांध से उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है, उसकी अपेक्षा दो इस तरह प्रकृतियों के नाम प्रकार भी हैं—उदयसंकमोत्कृष्टा, अनुदयसंकमोत्कृष्टा, उदयबंधो-त्कृष्टा, अनुदयबंधोत्कृष्टा।

५ प्रकृतियाँ अन्य भी दो प्रकार की हैं—उदयवती और अनुदयवती।

उदयसंकमोत्कृष्टा आदि चारों और उदयवती, अनुदयवती पदों के लक्षण स्वर्यं ग्रन्थकार यथायोग्य स्थान पर कहने वाले हैं, जिससे यहाँ उनके लक्षण नहीं कहे हैं।

इस प्रकार से छिलीय वर्गीकरण में संकलित भेदों की कुल संख्या पच्छह है। अब प्रत्येक वर्ग में संकलित प्रकृतियों के नामों का निर्देश करते हैं।

### स्वानुदयबंधिनी आदित्रिक प्रकृतियाँ

देवनिरयाउदेउद्विष्ठकक् आहारजुयलतित्थाणं ।

बंधो अणुदयकाले धुबोदयाणं तु उदयमिम् ॥५६॥

**शब्दार्थ—**देवनिरयाउ—देवायु और नरकायु, उदेउद्विष्ठक—वैक्रिय-षट्क, आहारजुयल—आहारकट्क, तित्थाण—सीर्थकरनामकर्म का, बंधो—बंध, अणुदयकाले—अनुदयकाल में, धुबोदयाण—धुबोदयरण—धुबोदया प्रकृतियों का, तु—कौन, उदयमिम—उदयकाल में।

**गाथार्थ—**देवायु, नरकायु, वैक्रियषट्क, आहारकट्क और तीर्थकरनाम इतनी प्रकृतियों का जब अपना उदय न हो (अनु-

दयकाल में) तब बंध होता है और ध्रुवोदय प्रकृतियों का अपना उदय होने पर बंध होता है।

**विशेषार्थ—**माथा में स्वानुदयबंधिनी, स्वोदयबंधिनी और उभय-बंधिनी प्रकृतियों के नाम बतलाये हैं। इन तीन प्रकार की प्रकृतियों में से स्वानुदयबंधिनी प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

‘देवनिरयाउ’ इत्यादि अर्थात् देवायु व नरकायु, देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी, वैक्रियशरीर और वैक्रिय-अभीषणग<sup>१</sup> रूप वैक्रियषट्क, आहारकशरीर, आहारक-अभीषणग रूप आहारकद्विक और तीर्थकरनाम इन ग्यारह प्रकृतियों का बंध जब इसका अपना उदय न हो उस समय होता है। इसी कारण ने ग्यारह प्रकृतियाँ अनु-दयबंधिनी प्रकृतियाँ कहलाती हैं।

उत्तम ग्यारह प्रकृतियों को अनुदयबंधिनी प्रकृत मानने का कारण यह है कि देवथिक का उदय देवगति में और नरकथिक का उदय नरकगति में और वैक्रियद्विक का उदय दोनों गतियों में होता है। लेकिन देव और नारक भवस्वभाव में ही इन प्रकृतियों का बंध नहीं करते हैं। तीर्थकरनामकर्म का उदय केवलज्ञान प्राप्त होने पर होता है, परन्तु उस समय उस प्रकृति का बंध नहीं होता है। क्योंकि अपूर्व-करणगुणस्थान में ही इसका बंधविल्लेद हो जाता है तथा आहारक-शरीर करने में प्रदृत जीव लिखप्रयोग के कार्य में व्यय होने से प्रसन्न हो जाता है, जिसमें तथा उसके बाद के समय में तथा प्रकार की शुद्धि का अभाव होने से मन्द संयमस्थानवती होने से आहारकशरीर और

१ वैक्रियशरीर और वैक्रिय-अभीषणग अपना उदय न हो तब बंध होता है, ऐसा क्यन मन्त्रप्रथयिक की विवरण से किया गया प्रतीत होता है। क्योंकि वैक्रियशरीरी मनुष्य, तिर्यक देव-प्राणीय या नरक-प्राणीय प्रकृतियों का बंध करते हुए वैक्रियद्विक को बोझते हैं।

आहारक-अंगीपांग का बंध नहीं करता है। इसीलिए ये सभी घ्यारह प्रकृतियाँ स्वोदयबंधिनी कहलाती हैं।

### स्वोदयबंधिनी प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं—

‘शुद्धोदयाण’ अर्थात् शुद्धोदया प्रकृतियाँ स्वोदयबंधिनी हैं। जिनके नाम हैं—ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, अन्तरायपंचक, मिथ्यात्वमोहनीय, निर्मण, तैजस, कार्मण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, आगुरुलभु और वर्णचतुष्क। इन सभी सत्ताईस प्रकृतियों का उदय होने पर ही जंध होता है। क्योंकि ये सभी प्रकृतियाँ शुद्धोदया हैं और शुद्धोदया होने से उनका खदैव उदय होता है।

पूर्वोक्त घ्यारह और सत्ताईस प्रकृतियों से शेष रही निद्रापंचक, जातिपंचक, संस्थानघटक, संहननघटक, सोलह कथाय, नव नोकथाय, पराधात, उपधात, आतप, उद्योत, उच्छ्रवास, साता-असातावेदनीय, उच्चगोत्र, नीचगोत्र, मनुष्यश्रिक, तिर्यचविक, औदारिकद्विक, विहृयोगातिद्विक, त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थावर, सुक्षम, अपयोगि, साधारण, सुस्वर, सुभग, आदेय, यजःकीति, दुःस्वर, दुर्भंग, अनादेय, अयशःकीति रूप व्यासी प्रकृतियाँ स्वोदयानुदयबंधिनी हैं। क्योंकि ये सभी प्रकृतियाँ मनुष्य, तिर्यच को उदय हो अथवा न हो तब बंधती हैं।<sup>१</sup> इसीलिए इन प्रकृतियों को स्वोदयानुदयबंधिनी कहते हैं।<sup>२</sup>

१ यही मनुष्य, तिर्यच के उदय हो या न हो तब बंधती है—ऐसा कहने का कारण यह है कि उक्त प्रकृतियों में से प्रकृतियाँ हैं जिनको प्रायः मनुष्य तिर्यच बंधते हैं। देव, भारक भी उक्त प्रकृतियों में से उनको जिनका उदय संभव हो सकता है, उनका उदय हो या न हो, लेकिन उक्त प्रकृतियों में से स्वयोग्य प्रकृतियाँ बंधते हैं।

२ गोमटसार कर्मकाण्ड गाथा ४०२, ४०३ में इसी प्रकार से अनुदय, उदय और उभयबंधिनी प्रकृतियों को बतलाया है—

इस प्रकार से अनुदय, उदय और उभय वंशिनी संज्ञाओं में संकलित प्रकृतियों को जानना चाहिए। अब जिन प्रकृतियों का साथ एवं क्रम, उल्कम से वंश और उदय का विच्छेद होता है, उनके श्रिक को बताते हैं :

### शतकव्यवंशिलयस्थान आदित्रिक प्रकृतियाँ

गयचरमलोभ ध्रुवबंधि मोहहासरइ मण्यपुञ्चीण ।

सुहमतिगआयवाण सपुरिसदेयाण बंधुदया ॥५३॥

बोचिलजजंति समंचिय कमसो सेसाण उक्कमेण तु ।

अटुण्हमजससुरतिग वेउव्वाहारजुयलाण ॥५४॥

**शब्दार्थ**—गयचरमलोभ—चरम (संज्वलम) लोभ के विना, ध्रुवबंधि—ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों, भोह—मोहनीयकर्म की, हासरइ—हास्य-रति, मण्य-

मुरणिरथाङ तित्वं वेगुचियष्टुचक हारमिदि जेसि ।

पर उदयेण य बंधो मिच्छं सुहमस्प वादीओ ॥

तेजदुगं वण्णचक थिरसुह जुगलमुस्थिमिणदुवउदया ।

सोदयवंधा सेमा वासीदा उमयवंधाओ ॥

देवाशु, नरकाशु, तौर्चकरनाम, वैक्रियष्टुचक, आहारकडिक, इन ग्यारह प्रकृतियों का पर के उदय से वंश होता है और विष्यालक, सूक्ष्म-संपरायगुणस्थान में व्युच्छुद्व होने वाली प्रतियाकर्मों की चौदह प्रकृतियाँ, तैजसपुमल, वर्गाचिचतुर्चक, स्थिर और शुभ का युगल, अगुरुचु, निर्मण रूप ध्रुवोदय बारह प्रकृतियाँ, कुल विनाकर ससाइस प्रकृतियों का अपना उदय होने पर ही वंश होता है तथा ये रही पाँच निशा आदि वपनी प्रकृतियाँ उमयवंधिनी हैं। अर्थात् इनका उदय होने पर अपना न होने पर भी वंश होता है।

मनुष्यानुपूर्वी, सुरतिग—सूक्ष्मत्रिक, आयथाण—आतपनाम, सपुरिस-  
वेदाण—पुरुषवेदमहित, वृद्धुक्षया—बंध और उदय ।

बोक्षिक्षुजननित—विच्छेद होता है, समस्ति—साथ ही, कमलो—क्रम से,  
सेहाण—शेष प्रकृतियों का, उक्कमेण—उत्क्रम से, सु—और, अट्टण्ह—आठ  
का, अज्ञास—अप्यवालीति, सुरतिग—देवत्रिक, वैउच्चाहारजुग्माण—वैक्रिय-  
द्विक और आहारकद्विक का ।

गाथार्थ—संज्ञलन लोभ के बिना मोहनीयकर्म की घुब-  
बंधिनी और हास्य, रति, मनुष्यानुपूर्वी, सूक्ष्मत्रिक, आतप और  
पुरुषवेद इतनी प्रकृतियों का बंध और उदय साथ ही विच्छेद होता  
है और वेष प्रकृतियों का क्रम से विच्छेद होता है सेकिम अयशः-  
कीति, देवत्रिक, वैक्रियद्विक और आहारकद्विक इन आठ प्रकृतियों  
का उत्क्रम से बंध और उदय का विच्छेद होता है ।

विशेषार्थ—उक्त गाथाद्वय में समक, क्रम और उत्क्रम व्यवच्छिद्य-  
मान बंधोदया प्रकृतियों को बतलाया है । उनमें में पहले समकव्यव-  
च्छिद्यमान प्रकृतियों को बतलाते हैं—

संज्ञलन लोभ को छोड़कर मोहनीयकर्म की घुबबंधिनी पद्धति  
काषाय, मिथ्यात्व, भय और जुगुप्ता ये अठारह तथा हास्य, रति,  
मनुष्यानुपूर्वी, सूक्ष्म, साधारण और अपर्याप्त रूप सूक्ष्मत्रिक, आतपनाम  
और पुरुषवेद कुल मिलाकर हृष्वीश प्रकृतियों का बंध और उदय साथ  
ही विच्छिन्न होता है । यानी इन प्रकृतियों का जिस गुणस्थान में बंध-  
विच्छेद होता है, उसी गुणस्थान में उदयविच्छेद भी होता है । जिससे  
ये प्रकृतियाँ समकव्यवच्छिद्यमान बंधोदया प्रकृति कहलाती हैं । जिसका  
स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सूक्ष्मत्रिक, आतप और मिथ्यात्वमोहनीय का पहले मिथ्याद्विट-  
गुणस्थान में, अनन्तानुबंधिकषायचतुष्क का दूसरे सासादनगुणस्थान  
में, मनुष्यानुपूर्वी और अप्रत्याख्यातावरणकाषायचतुष्क इन पांच प्रकृतियों

का चौथे अविरतसम्यग्हटिगुणस्थान में, प्रत्यारुपानावरणकथायचतुष्क का पांचवें देशविरतगुणस्थान में, हास्य, रति, भय और जुगुप्ता इन आर प्रकृतियों का आठवें गुणस्थान में, संज्वलन क्रोध, मान, माया और पुरुषवेद का नींवे अनिवृत्तिवादरसंपरायगुणस्थान में साथ ही अंघ और उदय का विच्छेद होता है। जिससे ये छब्बीस प्रकृतियों समक्षव्यवच्छिद्यमान बंधोदया प्रकृतियों कहलाती है ।<sup>१</sup>

इन छब्बीस प्रकृतियों के लिए प्रकृतियों क्रमव्यवच्छिद्यमान बंधोदया प्रकृतियों हैं। लेकिन इतना विशेष है कि आगे कही जाने वाली अयशःकीति आदि आठ प्रकृतियों को और कम कर देना चाहिये। अतएव बंधयोग्य एक सौ बीस प्रकृतियों में से छब्बीस और आठ प्रकृतियों को कम करने पर शेष रही छियासी प्रकृतियों क्रमव्यवच्छिद्यमान बंधोदया जानना चाहिये। अर्थात् इन छियासी प्रकृतियों के अंघ और उदय का क्रमपूर्वक यानि पहले अंघ का और उसके बाद उदय का विच्छेद होता है। जिसके नाम इस प्रकार हैं—

ज्ञानावरणपञ्चक, अतरायपञ्चक, दर्शनावरणचतुष्क, निद्रापञ्चक, हेतुभीयद्विक, सस्थानष्टक, अप्रशस्तविहायोगति, सुस्वर, दुस्वर, औदारिकद्विक, प्रथम संहनन, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, तेजस, कार्मग, वर्णचतुष्क, अगुहलचतुष्क, प्रत्येक, निर्मण, भनुष्यत्रिक, जातिपञ्चक, त्रस, स्थावर, बादर, पर्याप्त, सुभग, दुर्भग, आदेय, अनादेय, तीर्थकरनाम, यशःकीति, उच्चमोत्र, नीचगोत्र, नरकत्रिक, अतिम संहनन, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, तिर्थत्रिक, उद्घोत, मध्यम सहनसचतुष्क, अरति, शोक, संज्वलन लोभ ।

१ दिग्म्बर परम्परा में उक्त प्रकृतियों के साथ एकेन्द्रियादि जातिचतुष्क और स्थावर इन पांच प्रकृतियों को समक्षव्यवच्छिद्यमान बंधोदय वर्ण में दर्शन है। वही इन प्रकृतियों की संख्या ३५ है। वेदिये—पञ्चसंवह कर्मस्तवचतुष्किका गाथा ६८, ६९ ।

इन छियासो प्रकृतियों को क्रमव्यवच्छेदमान बोधोदया भासने का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

ज्ञातावरणपञ्चक, अंतरायपञ्चक का और दर्शनावरणचतुष्क इन चाँदह प्रकृतियों का बंधविच्छेद सो दसवें सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के चरम समय में और उदयविच्छेद बारहवें क्षीणभोहगुणस्थान के चरम समय में होता है।

निद्रा और प्रबला का अपूर्वकरणगुणस्थान के प्रथम भाग में बंधविच्छेद और क्षीणभोहगुणस्थान के द्वितीय समय में उदयविच्छेद होता है।

असातावेदनीय का प्रमत्तसंयतगुणस्थान में और सातावेदनीय का सयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय में बंधविच्छेद और दोनों में से अन्यतर का उदयविच्छेद सयोगिकेवली अथवा अयोगिकेवली मुण्डस्थान के चरम समय में होता है।

अन्तिम संस्थान—हुण्डसंस्थान का भिण्डाहृष्टगुणस्थान में, मङ्ग्यम संस्थानचतुष्क, अप्रशस्तविहायोगति और दुःखरनाम का सासादन-गुणस्थान में, औदारिकद्विक और प्रथम संहनन का अविरतसम्यग्हृष्ट-गुणस्थान में, अस्थिर और अशुभ का प्रमत्तसंयतगुणस्थान में, तैजस, कार्मण, समचतुरस्संस्थान, वर्णचतुष्क, अमुक्लधुचतुष्क, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुखर और निर्मणनाम का आठवें अपूर्वकरणगुणस्थान के छठे भाग में बंधविच्छेद होता है किन्तु अन्तिम संस्थान से लेकर निर्मणनाम पर्यन्त पूर्वोत्तर अट्ठाईस प्रकृतियों का उदयविच्छेद सयोगिकेवली-मुण्डस्थान के चरम समय में होता है।

मनुष्यविकिं<sup>१</sup> का अविरतसम्यग्हृष्टगुणस्थान में, पचेन्द्रियजाति,

१ आचार्य मलयगिरिसूरि ने यही मनुष्यविकिं में मनुष्यानुपूर्वी का वर्णण किया है और उक्ता उदयविच्छेद अयोगि के चरम समय में होता है, ऐसा कहा है। यह विचारणीय है। क्योंकि किसी भी आनुपूर्वी का उदय पहले, दूसरे

अस, बादर, पर्याप्ति, सुभग, आदेय, तीर्थकरनाम का अपूर्वकरणगुणस्थान के छठे भाग में तथा यशोकीलि और उच्चमोत्र का सुदमसंपराय के चरम समय में बंधविच्छेद और इन सभी बारह प्रकृतियों का अयोग्य-केवलीगुणस्थान के चरम समय में उदयविच्छेद होता है।

स्थावरनाम, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, श्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय जातिनाम तथा नरकत्रिक और अन्तिम संहनन तथा नपुंसकवेद का मिथ्याहृष्टि गुणस्थान में बंधविच्छेद और उदयविच्छेद अनुक्रम से सासादन, अविरत-सम्यग्रट्टिगुणस्थान, अप्रमत्तसंयतगुणस्थान और अनिवृत्तिबादरसंपराय-गुणस्थान में होता है।

स्त्रीवेद का बंधविच्छेद सासादनगुणस्थान में और उदयविच्छेद नौवें अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान में होता है।

तिर्यचानुपूर्वी, दुर्भग और अनादेय तथा तिर्यचवति, तिर्यचायु, उद्योत और नीचमोत्र तथा स्त्यानधित्रिक का तथा चौथे पांचवें सहनन का तथा दूसरे तीसरे संहनन का बंधविच्छेद तो सासादनगुणस्थान में होता है और उदयविच्छेद अनुक्रम से अविरतसम्यग्रट्टिगुणस्थान में, देशविरतगुणस्थान में, प्रमत्तसंयतगुणस्थान में, अप्रमत्तसंयतगुणस्थान में और उपशांतमोहगुणस्थान में होता है।

अरति, शोक का बंधविच्छेद प्रमत्तसंयतगुणस्थान में और उदयविच्छेद अपूर्वकरणगुणस्थान में होता है।

और चौथे हन तीन गुणस्थानों में होता है। कदाचित् प्रदेशोदय की अपेक्षा से कहा जाये की वह मी योग्य नहीं है। कपोंकि प्रदेशोदय में संहनन, संस्थान नामकर्म जादि तिहत्तर प्रकृतियां होती हैं। इसलिए बंध और उदय चौथे गुणस्थान में हो जाने से उसे समकाल्यविच्छेदमानव्योदयवर्ग में ग्रहण करना योग्य प्रतीत होता है। विजञन स्पष्ट करने की कामा करें।

दिग्घर कार्मग्रन्थकों में मनुष्यानुपूर्वी का समकाल्यविच्छेदमानव्योदयवर्ग में समावेश किया है। देखें—कर्मस्तवद्युलिका, गाथा ५८, ६४।

संज्वलन लोभ का बांधविच्छेद नीवे अनिवृत्तिवादरसंयरायगुणस्थान के चरम समय में और उदयविच्छेद दसवें सूक्ष्मसंयरायगुणस्थान के चरम समय में होता है।

इस प्रकार से ये छियासी प्रकृतियाँ क्रम से बंध और उदय में विच्छिन्न होने से क्रमव्यवस्थितमान बंधोदया कहलाती हैं।<sup>१</sup>

पूर्वोत्तर छब्बीस और छियासी प्रकृतियों से शेष रही अयशःकीति, देवत्रिक, वैक्रियट्रिक और आहारकट्रिक इन आठ प्रकृतियों का पहले उदयविच्छेद और बाद में बांधविच्छेद होने से ये उत्क्रमव्यवस्थितमान बंधोदया कहलाती है। सम्बन्धित स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

अयशःकीति का प्रभत्तसंयतगुणस्थान में, देवायु का अप्रभत्तसंयत-गुणस्थान में, देवट्रिक और वैक्रियट्रिक का अपूर्वकरणगुणस्थान में बांधविच्छेद होता है, लेकिन इन छहों प्रकृतियों का उदयविच्छेद चौथे गुणस्थान में होता है तथा आहारकट्रिक का अपूर्वकरणगुणस्थान में बांधविच्छेद और अप्रभत्तसंयतगुणस्थान में उदयविच्छेद होता है।

<sup>१</sup> अत्यर्थ मत्यगिरिसुरि ने क्रमव्यवस्थितमान बंधोदया प्रकृतियों के जो छियासी (=६) नाम बतलाये हैं। उनमें से कुछ नाम खोपशब्दत्रिति में किये गये नामोल्लेख से भिन्न हैं। स्थोपशब्दत्रिति में के नाम इस प्रकार हैं—

शानावरणपंचक, अन्तरायदंथक, दर्शनावरणनवक, नामधृत्रोदया द्वादशक (तिमणि, हितर, अहितर, तैजस, कर्मण, वर्णचलुष्ट, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ), सुस्वर, दुःस्वर, विहायोगट्रिक, औदारिकट्रिक, प्रत्येक, वृक्षकृष्णनारायणसंहनन, उपधात्रिक, मनुष्यादु, वैदनीयट्रिक, गोवट्रिक, अयोगिनवक (मनुष्यगति, पंचेन्द्रियआति, व्रत, वादर, पर्याप्ति, सुभग, आदेय, यशःकीति, कीर्तिकर), स्थावर, नरकट्रिक, आतिचतुष्टक, अन्तिम संहनन, नपुंसकवेद, दुर्जन, उद्योत, अलादेय, तिर्यक्षत्रिक, स्त्रीवेद, भद्रम संहनन चतुष्टक, संहननषट्क, अरति, शोक, संज्वलन लोहम।

इसीलिये ये आठ प्रकृतियां उत्क्रमव्यवच्छिद्यमान वंधोदया गाती जाती हैं।

इस प्रकार मे समक्षव्यवच्छिद्यमान वंधोदया आदि तीनों कर्मों में गमित प्रकृतियां जातना चाहिए।<sup>1)</sup> अब सांतरादिबंधी प्रकृतियां बतलाते हैं।

### सांतरादिबंधी आदि प्रकृतियां

वृत्तवंधिणी उत्तियगरनाम आउय वउक्का बावन्ना ।

एथा निरंतरभो सगवीसुभसंतरा सेसा ॥५८॥

चउरंसउसभ परघाउसासपुंसगलसायसुभछगई ।

वेउच्छिउरलमुरनरतिरिगोयदु सुसरतसतिचऊ ॥५९॥

(क) गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ५००, ५०१ में इन समक्षव्यवच्छिद्यमान वंधोदया आदि प्रकृतियों का उल्लेख इस प्रकार किया है—

देवचउक्काहारदुरज्जसदेयाउगाण सो पक्ष्मा ।

मिच्छत्ताशावाण गराणुशावर च उड्काण ॥

पण्णरकसाय भयदु छउजाइ पुरिसदेवाण ।

समयेककलीसाण सेमिगिसीदाण पुञ्च तु ॥

देवगति आदि चतुर्थ, आहारकदिक, अवशःकीर्ति और देवायु इन आठ प्रकृतियों की वंधव्युच्छिति उदय की व्युच्छिति के पीछे होती है। मित्रात्म, आतप, भनुष्यवस्थामुपूर्वी, स्थावरचतुर्थ, संज्ञवल्म लीभ के लिना पन्द्रह कषाय, भयदिक, ह्रास्यदिक, एकेदिय आदि जातिचतुर्थ, पुरुषदेव इन इक्षीस प्रकृतियों की उदय और वंधव्युच्छिति एक काल में होती है तथा इससे शेष रही इक्षीस प्रकृतियों की उदयव्युच्छिति के पहले वंधव्युच्छिति होती है।

(ख) वि. वंधव्युच्छ वर्षस्तकचूलिका गाथा ६५, ६८, ६९, ७० में भी गो, कर्मकाण्ड के अनुरूप कथन किया गया है।

समयाओ अंतमुहू उक्कोसा जाण संतरा ताओ ।  
बंधेहियमि उभया निरुत्तरा तन्मि उ जहने ॥६१॥

**शास्त्रार्थ**—शुद्धवृष्टिशी—ध्रुववृष्टिशी, च—ओर, सिष्यमरकाम—सीधेकरनाम, आज्ञयक्षमताक—आगुखतुल्क, बाधका—बाधन, एथा—ये, निरस्तराओ—निरस्तरा, सत्त्वीस—सत्ताइस, छाँड—उभया (सान्तर-निरस्तरा) संतरा—सान्तरा, सेहा—शेष।

चतुर्णस—समचतुर्णसस्थान, उत्तम—वज्रशृष्टभनाराचसंहनन, परघा-  
उत्तरास—पराघात, उच्छ्रवास, दु—पुरुषवेद, सागल—पञ्चेन्द्रियआति, साध—  
साताबिदनीय, सुखखण्ड—प्रणास्तकिहायीमति, वेदविज्ञापनसुरनरतिरितोधु—  
वैकियद्विक, औदारिकद्विक, देवद्विक, मनुष्यद्विक, तिर्यचद्विक, गोशद्विक, सुसरतस-  
तिरित—सुखवरतिक, असचतुर्णक ।

समवाख्य—एक समय से प्रारम्भ होकर, अंतमुहू—अनन्तमुहूर्त, जग्नीसा—  
उत्कृष्ट, जाग—जिमका, संतरा—सन्तरा, साओ—वे, बंधेहियमि—अधिक लंय,  
सभ्या—प्रतिर-निरतरा, निरतरा—निरतरा, तनिम—उनमें, उ—और,  
आहने—जघाव्य ।

**आधार—** ध्रुवबधिनी तथा तीर्थकरनाम और आयुषतुष्क ये बाबन प्रकृतियां निरंतर हैं, सत्ताइस प्रकृतियां उभया और शेष प्रकृतियां सात्तरा हैं।

समचतुरसंस्थान, वज्रऋषभनाराचसंहन, पराधात,  
उच्छ्रवास, पुरुषबेद, पञ्चेन्द्रियजालि, साताक्रेदनीय, प्रशस्तविहायो-  
गति, वैक्रियद्विक, औदारिकद्विक, देवद्विक, मनुष्यद्विक, तिर्यक्तद्विक,  
गोवद्विक, सुस्वरविक और असचलुष्क ये सत्ताईस प्रकृतियाँ  
उभया—सान्तार-निरत्तरा हैं।

जिन कर्मप्रकृतियों का जबन्यतः एक समय से प्रारम्भ होकर उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त बंध होता हो वे सान्तता कहलाती हैं

तथा जिन प्रकृतियों का एक समय से आरम्भ होकर अन्तमुहूर्त से भी अधिक समय तक बंध होता हो वे सान्तरनिरन्तरा और जिन प्रकृतियों का जघन्य भी अन्तमुहूर्त बंध होता हो वे निरन्तरा कहलाती हैं।

**विशेषार्थ—वेध्योग्य** एक सौ बीस प्रकृतियों का सांतर आदि तीन वर्गों में वर्गीकरण करके प्रत्येक वर्ग में संकलित प्रकृतियों के नाम और वर्गों के लक्षण इन तीन गाथाओं में बतलाये हैं। सर्वप्रथम निरन्तर-बंधिनी प्रकृतियों को बतलाते हैं।

**निरन्तरबंधिनी—**जिन प्रकृतियों का जघन्य से भी अन्तमुहूर्त पर्यन्त बंध होता है, अन्तमुहूर्त तक बंध में अन्तर नहीं पड़ता वे प्रकृतियों निरन्तरबंधिनी कहलाती हैं। ऐसी प्रकृतियां बाबन हैं। जिनके नाम हैं—

‘धुवबंधिनी’ इत्यादि अर्थात् शानावरणपञ्चक, दर्शनावरणपञ्चक, अंतरायपञ्चक, सौलह कषाय, मिथ्यात्व, भय, जुगुप्सा, अगुरुलघु, निमणि, तैजस, कार्मण, उषधात और वर्णचतुष्क ये सेतालीस धुवबंधिनी प्रकृतियों तथा तीर्थकारनाम और आयुचतुष्क, कुल मिलाकर बाबन प्रकृतियों निरन्तरबंधिनी हैं। इन बाबन प्रकृतियों को निरन्तरबंधिनी मानने का कारण यह है कि ये प्रकृतियों जघन्य से भी अन्तमुहूर्त पर्यन्त निरन्तर बंधती हैं। इस काल में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता है। इसीलिये ये निरन्तरबंधिनी प्रकृतियों कहलाती हैं।

निरन्तरबंधिनी प्रकृतियों को बतलाने के बाद अब सान्तरनिरन्तरबंधिनी प्रकृतियों को बतलाते हैं।

**सान्तरनिरन्तरबंधिनी—**जिन प्रकृतियों का जघन्य समयमात्र बंध होता हो और उत्कृष्ट एक समय से प्रारम्भ कर निरन्तर अन्तमुहूर्त से ऊपर असंख्यात काल पर्यन्त बंध होता हो, उनको सान्तरनिरन्तरबंधिनी प्रकृति कहते हैं। ऐसी प्रकृतियां सत्ताईंस हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

समचतुरस्त्रासंस्थान, वज्रऋषभनाराचसंहनन, पराधात, उच्छ्रवास, पुरुषवेद, पञ्चेन्द्रियजाति, सातावेदनीय, शुभविहायोगति, वैक्रियद्विक (वैक्रियशरीर, वैक्रियअंगोपांग), औदारिकद्विक, देवद्विक (देवगति, देवानुपूर्वी), मनुष्यद्विक, लिंगद्विक, गोवद्विक (गोल्लापोषः गोल्लगोपः), सुखरत्रिक (सुखर, सुभग, आदेय), असचतुष्क (अस, बादर, पथरित और प्रत्येक) ये सत्ताईस प्रकृतियाँ सान्तर-निरन्तरबाधिनी हैं।

इन प्रकृतियों को सान्तर-निरन्तरबाधिनी कहने का कारण यह है कि अन्तमुहूर्त में बाध के आश्रय से अन्तर पड़ता है और असंख्यकाल पर्यन्त निरन्तर भी बाधती है। जबक्य समयमात्र बंधने के कारण ये प्रकृतियाँ सान्तरा हैं और उत्कृष्ट से अनुसर आदि के देवों को असंख्यतकाल पर्यन्त भी निरन्तर बाधती हैं, अतः अन्तमुहूर्त में बाध का अन्तर नहीं पड़ने से निरन्तरा कहलाती है।

उक्त दोनों वर्गों में संकलित प्रकृतियों ने शेष रही प्रकृतियाँ सान्तरबाधिनी हैं।

**सान्तरबाधिनी**—जिन प्रकृतियों का जबक्य समयमात्र और उत्कृष्ट समय से प्रारम्भ कर अन्तमुहूर्त पर्यन्त बाध होता हो, उससे बधिक काल नहीं, वे प्रकृतियाँ सान्तरबाधिनी हैं। ऐसी प्रकृतियाँ इक सालीस हैं। जिनके नाम हैं—

असातावेदनीय, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, नरकद्विक (नरकगति, नरकानुपूर्वी), आहारकद्विक, पहले के बिना शेष शोच संस्थान, पहले के बिना शेष पाच संहस्र, एकेन्द्रियादि जाति-चतुष्क, आतप, उद्योत, अप्रशास्तविहायोगति, स्थिर, शुभ, यशःकीलि और स्थावरदशाक। कुल मिलाकर ये इकतालीस प्रकृतियाँ सान्तर-बाधिनी जानना चाहिये।

ये सभी इकतालीस प्रकृतियाँ जबक्य से एक समय और उत्कृष्ट से अन्तमुहूर्त तक बधती हैं। तत्पश्चात् अपने सामान्य बधहेतुओं का सदृभाव होने पर भी तथास्वभाव से इन प्रकृतियों के बंधयोग्य अच्यव-

साधों का परावर्तन हो जाने से नहीं बंधती है, एवं उनकी प्रतिपक्षी प्रकृतियों बंधती हैं। इसीलिए ये प्रकृतियों साम्नरवंशिनी कहलाती हैं।

इस प्रकार हे निरन्तरवंशिनी आदि इन्हिसमें जानना चाहिये । अब उदयवंशोत्कृष्टादि प्रकृतियों को बहलाने के पूर्व उनके सक्षण कहते हैं ।

### उदयवंशोत्कृष्टादि के लक्षण

उदए व अणुदए वा बंधाओ अन्तसंकमाओ वा ।

ठिसर्तं जाण भवे उकोसं ता तथवखाओ ॥६२॥

**शब्दार्थ—** उदए—उदय, व—अथवा, अणुदए—उदय न होने, वा—अथवा, बंधाओ—बंध द्वारा, अन्तसंकमाओ—अन्ध के संक्रम द्वारा, वा—अथवा, ठिसर्तं—स्थिति की सत्ता, जाण—जिनकी, भवे—होती है, उकोसं—उत्कृष्ट, ता—वे, तथवखाओ—उस नाम वाली कहलाती है ।

**गाथार्थ—** अंध द्वारा अथवा अन्ध के संक्रम द्वारा उदय होने

१ दिग्मवर कर्मशम्भों (गो, कर्मकरण गाथा ४०४-४०७ तथा पंचसंप्रह कर्म-स्तवचूलिका गा० ५४-५७) में निरन्तरवंशिनी आदि प्रकृतियों के लाभों का उल्लेख इस प्रकार किया है—

आनन्दरणणदेवक आदि सौतालीस ध्रुवप्रकृतियां, सौर्यकरनाम, आदा-रक्तिक और आयुचतुष्क—ये चतुर्वत प्रकृतियों निर्णतर बंध कासी हैं। नरकगतित्रिक, एकेन्द्रिय आदि जातिचतुष्क, अस्तिय पांच संहृतन और पांच संस्थान, अप्रशास्त्रविहायोगति, आतप, उद्घोत, स्वाधरहस्यक, असातावेदनीय, नपुंकवेद, हनीवेद, अशति, शीक, ये चौतीस प्रकृतियां सांसारवंशिनी हैं तथा देवगतित्रिक, मनुष्यगतित्रिक, तियंबगतित्रिक, औदारिकद्विक, चंकिय-शरीरद्विक, प्रशस्तविहायोगति, वज्रचतुष्टभनाराचसंहृतन, परावातमुम्ल, सम्बतुरलसंस्थान, चंचित्तियज्ञति, वस्त्रदशक, सांसारेदनीय, हास्य रति, पुष्पवेद और गोत्रद्विक ये चौतीस प्रकृतियां साम्नरवंशनिरस्तरवंशिनी हैं ।

अथवा उदय न होने पर जिन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति की सत्ता होती है, वे प्रकृतियां उस नाम बाली कहलाती हैं।

**विशेषार्थ—** गाथा में उदयबंधोत्कृष्टा आदि के लक्षण अतलाये हैं—

जिन कर्मप्रकृतियों का उदय हो अथवा न हो, सेकिन बंध द्वारा अथवा अन्य प्रकृतियों के दलिकों के संक्रम द्वारा उत्कृष्ट स्थिति की सत्ता होती है, वे प्रकृतियां इस प्रकार से अपने-अपने अनुरूप संज्ञा बाली समझ लेना चाहिये।

जिन कर्मप्रकृतियों का विपाकोदय हो तब मूलकर्म की जितनी उत्कृष्ट स्थिति है, उतनी स्थिति उन प्रकृतियों की बंध द्वारा बांधी जाये तो उन्हें उदयबंधोत्कृष्टा कहते हैं। बंधोत्कृष्टा अथवा मूलकर्म का जितना उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है, उतना स्थितिबंध उन उत्तर प्रकृतियों का हो जिनका कि बंध उस समय हो रहा है तो वे बंधोत्कृष्टा कहलाती हैं और जिन प्रकृतियों का उदय हो तभी उनका उत्कृष्ट स्थितिबंध हो तो वे प्रकृतियां उदयबंधोत्कृष्टा कहलाती हैं, जैसे कि मसिज्जामावरणकर्म।

जिन प्रकृतियों का उदय न हो, तब उत्कृष्ट स्थितिबंध ही तो वे अनुदयबंधोत्कृष्टा कहलाती हैं, जैसे पांच निदाएँ।

अपने मूलकर्म का जितना उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है, उतना स्थितिबंध जिन उत्तर कर्मप्रकृतियों के बंध के समय तक तो न होता हो किन्तु स्व-जातीय प्रकृतियों के दलिकों के संक्रम द्वारा होता हो, वे प्रकृतियां संक्रमोत्कृष्टा कहलाती हैं और उसमें भी जिन प्रकृतियों का जब उदय हो तो भी उन प्रकृतियों को अन्य स्वजातीय प्रकृतियों के दलिकों के संक्रम द्वारा उत्कृष्ट स्थितिलाभ होता है, वे उदयसंक्रमोत्कृष्टा कहलाती हैं, जैसे—सातावेदनीय।

उदय न हो तब संक्रम द्वारा उत्कृष्ट स्थिति का लाभ हो वे प्रकृतियों अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा कहलाती हैं, जैसे कि देवगतिनामकर्म।

इस प्रकार से १ उदयबंधोत्कृष्टा, २ अनुदयबंधोत्कृष्टा, ३ उदय-संक्रमोत्कृष्टा, ४ अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा के मेद से प्रकृतियों के चार वर्ग हैं। इन चारों के लक्षण बतलाने के बाद अब अनानुपूर्वी के क्रम से सर्वप्रथम उदयसंक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों को बतलाते हैं।

### उदयसंक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियाँ

मणुगड़ सायं सम्मं थिरहासाइछ वेयसुभखगई ।

रिसहचउरंसगाईपणुच्च उदसंक्रमुककोसो ॥६३॥

**शब्दार्थ**—मणुगड़—मनुष्यगति, सायं—सातावेदनीय, सम्मं—सम्यक्त्व-मोहनीय, थिरहासाइछ—हिंसादि और हास्यादि घटक, वेय—तीन वेद, सुभ-खगई—प्रशस्तविहायोगति, रिसहचउरंसगाई—वज्रशृष्टभन्नाराचसंहृतनादि, सम्भसुरसंस्थानादि, पण—पाँच, उच्च—उच्चतमोश, उदसंक्रमुककोसो—उदयसंक्रमोत्कृष्टा ।

**ग्रामार्थ**—मनुष्यगति, सातावेदनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, स्थिरादिघटक और हास्यादिघटक, तीन वेद, प्रशस्तविहायोगति, वज्र-

१ शास्त्रों में १ पूर्वानुपूर्वी, २ पश्चानुपूर्वी और ३ अनानुपूर्वी, इन तीनों प्रकारों—प्रणालियों से पदार्थों का वर्णन किया गया है। जिस पदार्थ का जिस क्रम से निरूपण किया गया हो, उसी क्रम से एक-एक पदार्थ के स्वरूप को बतलाने की पूर्वानुपूर्वी कहते हैं। जिस पदार्थ का जिस क्रम से निरूपण किया गया हो, उससे उलटे—विपरीत क्रम से यानी अन्तिम से आदि तक एक एक पदार्थ का स्वरूप बतलाना पश्चानुपूर्वी है और जिस पदार्थों का जिस क्रम से निरूपण किया गया हो, उनका ऊपर बताये गये दोनों क्रमों के बिना इच्छानुरूप क्रम से स्वरूप बतलाने को अनानुपूर्वी कहते हैं ।

यहाँ मूल गाया में बताये गये चारों पदार्थों में से पहले तीसरे का, उसके बाद चौथे, दूसरे और पहले का वर्णन किया गया है। इसीलिए यहाँ अनानुपूर्वी क्रम का संकेत किया है ।

ऋषभनाराचादि पांच संहनन, सनक्तुरस आदि पांच संस्थान और उच्चवरोत्र, ये उदयसंक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियाँ हैं।

**विशेषार्थ—** गाथा में उदयसंक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों के नाम बताये हैं—मनुष्यगति, सातावेदनीय, सम्यवत्वमोहनीय, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय और यशःकीर्तिरूप स्थिरषट् तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्ता रूप हास्यषट्, वेदत्रिक—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद, प्रशस्तविहायोगति, वज्रऋषभनाराचसंहनन, ऋषभनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, अर्घनाराचसंहनन और कीलिकासंहनन नामक पांच संहनन, समक्तुरस, त्यगोधपरिमंडल, सादि, वामन और कुण्ड नामक पांच संस्थान और उच्चवरोत्र, ये तीस प्रकृतियाँ उदयसंक्रमोत्कृष्टा हैं। इनको उदयसंक्रमोत्कृष्टा मानने के कारण का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

इन प्रकृतियों का जब उदय होता है, तब इनकी विषक्षभूत सजातीय नरकगति, असातावेदनीय और मिथ्यात्वमोहनीय आदि कर्मप्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति को बांधकर उनकी बंधावलिका बीतने के बाद उदय-प्राप्त हुई उपर्युक्त मनुष्यगति आदि प्रकृतियों का बंध प्रारम्भ करता है। तब उदय-प्राप्त और बांधी जा रही इन मनुष्यगति आदि में नरकगति आदि विषक्षभूत प्रकृतियों के दलिकों को संक्रमित करता है। अर्थात् संक्रम से उत्कृष्ट स्थितिलाभ होता है।

**यहाँ मनुष्यगति आदि का बंध ही—** ऐसा जो कहा है, उसका कारण यह है कि बंधावलिका पूर्ण न हो तब तक उसमें कोई भी कारण लागू नहीं होता, इसलिए बंधावलिका बीतना चाहिए और जिसमें संक्रम होना है, उसका बंध प्रारम्भ हो तभी संक्रम होता है, क्योंकि बंधभान प्रकृति ही पतदग्रह होती है और पतदग्रह प्रकृति के बिना कोई भी प्रकृति संक्रमित नहीं हो सकती है। इसीलिए मनुष्यगति आदि का बंध होना चाहिए ऐसा उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ—मनुष्यगति का जब उदय हो तब नरकगति की बीस कोडाकोडी सामरोपम की स्थिति

का बंध करे और उसकी बंधावलिका बीतमे के बाद मनुष्यगति का बंध प्रारम्भ करे तो उसमें उदयावलिका से ऊपर के मरकगति के दलिकों को संक्रमित करे तब मनुष्यगति में उत्कृष्ट स्थिति का लाभ होता है। इसी सरह सातावेदनीय आदि प्रकृतियों के लिए भी समझना चाहिये।

संक्रम द्वारा उत्कृष्ट स्थितिसत्ता होने का कारण यह है कि शुभ प्रकृतियों की बंधमुखेन स्थिति अल्प और अशुभ प्रकृतियों की उत्कृष्ट बंधती है। अतएव अशुभ प्रकृतियों के दलिकों के संक्रम द्वारा ही शुभ प्रकृतियों में उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है, अन्यथा नहीं और मनुष्यगति आदि शुभ प्रकृतियाँ हैं। जिससे ये मनुष्यगति आदि तीस प्रकृतियों उदयसंक्रमोत्कृष्टा मानी गई हैं।

इस प्रकार से उदयसंक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों की बतलाने के बाद अब अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियाँ बतलाते हैं।

### अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियाँ

मणुष्याणुपुच्छमीसग आहा रगदेवजुगलविगलाणि ।

सुहुमाइतिर्ग तिर्थं अणुदयसंकमणउक्कोसा ॥६४॥

**शब्दार्थ—**मणुष्याणुपुच्छ—मनुष्याणुपूर्वी, सोसा—मिथ्यमोहनीय, आहा रगदेवजुगल—आहारकद्विक और देवद्विक, विगलाणि—विकलाणिक, सुहुमाइतिर्ग—सूक्ष्मादित्रिक, तिर्थं—तीर्थकरनाम, अणुदयसंकमणउक्कोसा—अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा।

**गाथार्थ—**मनुष्याणुपूर्वी, मिथ्यमोहनीय, आहारकद्विक, देवद्विक, विकलाणिक, सूक्ष्मादित्रिक और तीर्थकरनाम ये अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियाँ हैं।

**चिह्नार्थ—**गाथा में अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा तेरह प्रकृतियों के नाम बतलाये हैं। जो इस प्रकार हैं—

मनुष्यानुपूर्वी, मिश्रमोहनीय, आहारकशरीर, आहारक-अंगोपांग, देवगति, देवानुपूर्वी, हीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय, सूक्ष्म, अपथप्ति, साधारण और तीर्थकरनाम। इनको अनुदयसंक्रमीत्कृष्टा भासने का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

इन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति अपने-अपने बंध के द्वारा प्राप्त नहीं होती है। जिसका कारण यह है कि इनकी स्थिति अपने मूलकर्म जितनी बंध के समय बंधती ही नहीं है किन्तु स्वजातीय प्रतिपक्ष प्रकृतियों के संक्रम द्वारा ही उत्कृष्ट स्थिति होती है। वह इस प्रकार समझना चाहिए कि—

जब उक्त प्रकृतियों की प्रतिपक्षी प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध करके उनकी बंधावलिका जिस समय पूर्ण होती है, उसके बाद के समय में उपर्युक्त प्रकृतियों का बंध प्रारम्भ होता है। बंध रही प्रकृतियों में पूर्वबद्ध इनकी प्रतिपक्षी नरकानुपूर्वी आदि के दलिक संप्राप्ति होते हैं। अर्थात् सूक्ष्म द्वारा इनकी उत्कृष्ट स्थिति होती है, किन्तु वह भी लब, जब इनका उदय न हो। इसका कारण यह है कि जब उपर्युक्त प्रकृतियों का उदय होता है तब इनकी विपक्षी प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति का बंध ही नहीं होता है। यथा—मनुष्यानुपूर्वी का उदय विग्रहगति में होता है, विकलांगिक और सूक्ष्मादिक्रिक का उदय विकलेन्द्रियों और सूक्ष्मादि जीवों में होता है, आहारकशरीर और आहारक-अंगोपांग का उदय आहारकशरीरी के होता है, मिश्रमोहनीय का उदय तीसरे मिश्रमुण्डस्थान में और तीर्थकरनाम का उदय तेरहवें संयोगिकेवलीयुण्डस्थान में होता है, किन्तु वही उन-उनकी विपक्षी प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध के योग्य अद्यवसाय ही नहीं होते हैं और देवद्विक—देवगति, देवानुपूर्वी का उदय देवगति में होता है, परन्तु वही इन दोनों प्रकृतियों का बंध नहीं होता है। इन्हीं कारणों से मनुष्यानुपूर्वी आदि प्रकृतियां अनुदयबंधोत्कृष्टा कहलाती हैं।

इस प्रकार से उदय और अनुदय संक्षोत्कृष्टा प्रकृतियों को बतलाने के पश्चात अब शेष रही अनुदयबंधोत्कृष्टा और उदयबंधोत्कृष्टा प्रकृतियों का निर्देश करते हैं।

**अनुदय और उदय संक्षोत्कृष्टा प्रकृतिया**

**नारथतिरिउरलकुर्म छेवट्ठेगिदिधावरायावं ।**

**निहा अणुदयजेद्ठा उदउक्कोसा पराणाङ्ग ॥६४॥**

**शब्दार्थ—**नारथतिरिउरलकुर्म—मरकटिक, तिर्यचटिक, औदारिकटिक, छेवट्ठेगिवि—सेवात्संहनन, एकेन्द्रिय, स्थावर आवायावं—स्थावर और आतप, निहा—निद्रापंचक, अणुदयजेद्ठा—अनुदयबंधोत्कृष्टा, उदउक्कोसा—उदयबंधोत्कृष्टा, पराणाङ्ग—आयुकम् को छोड़कर शेष सब।

**गाथार्थ—**मरकटिक, तिर्यचटिक, औदारिकटिक, सेवात्संहनन, एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप और निद्रापंचक ये सभी अनुदयबंधोत्कृष्टा प्रकृतियां हैं और आयुकम् को छोड़कर शेष सब प्रकृतियां उदयबंधोत्कृष्टा हैं।

**विशेषार्थ—**गाथा में अनुदयबंधोत्कृष्टा प्रकृतियों का नामोलेख करके आयुकम् की प्रकृतियों के सिवाय शेष प्रकृतियों को उदयबंधोत्कृष्टा समझने का सकेत किया है। कारण सहित स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

मरकटिक, तिर्यचटिक, औदारिकटिक, सेवात्संहनन, एकेन्द्रियजाति, स्थावरनाम, आतपनाम और पांच निद्रायें कुल मिलाकर ये एन्द्रहु प्रकृतियां अनुदयबंधोत्कृष्टा हैं। इनको अनुदयबंधोत्कृष्टा मानने का कारण यह है कि इन सभी प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध अपने मूलकम् के उत्कृष्ट स्थितिबंध जितना ही होता है, सेकिन यह उत्कृष्ट स्थितिबंध तब होता है जब इनका उदय न हो।

मरकटिक आदि उपर्युक्त प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध के अधिकारी का विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इन प्रकृतियों

का जहाँ उदय है, वहाँ उनका उत्कृष्ट स्थितिबंध हो ही नहीं सकता है तथा निद्राओं का जब उदय होता है तब उनके उत्कृष्ट स्थितिबंध के योग्य विलक्षण परिणाम ही नहीं होते हैं और जब उस प्रकार के विलक्षण परिणाम होते हैं तब निद्रा का उदय होता नहीं है। क्योंकि निद्रा में कषायादि वृत्तियाँ तीव्र होने के बायां सात होती हैं। इसलिये जब उनका उदय हो तब उनका उत्कृष्ट स्थितिबंध नहीं होता है।

इसी कारण भृकुटिक आदि पांच निद्राओं पर्यंत प्रकृतियाँ अनुदय-बंधोत्कृष्टा बताई हैं।

'हृदउत्कृष्टा परापात्मक' अथवा दात-दायु और पूर्ण में बताई गई प्रकृतियों के सिवाय शेष रही साठ प्रकृतियाँ उदयबंधोत्कृष्टा हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

'पञ्चनिद्रियजाति, वैक्रियट्रिक,' हुंडसंस्थान, पराघात, उच्छ्वास, उद्दीप, अगुभविहायोगति, अगुरुस्थधु, तंजस, कार्मण, निर्मण, उपधात, वार्णीदि-चतुष्क, स्थिरादिष्टक, व्रसादिचतुष्क, असातावेदसीय, नोचगोत्र, स्तोलह कषाय, सिथ्यात्वमोहनीय, ज्ञानावरणयंचक, अन्तरायपर्यंचक और दर्शनावरणचतुष्क।

इन साठ प्रकृतियों को उदयबंधोत्कृष्टा मानने का कारण यह है कि इन प्रकृतियों का जब उदय हो तभी उनका अपने मूलकर्म जितना उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है। इसीलिये ये प्रकृतियाँ उदयबंधोत्कृष्टा कहलाती हैं।

१ वैक्रियट्रिक का उदय वेद और नारकों के भवप्रत्ययिक है, वहाँ तो उनका बंध नहीं होता है, परन्तु उस वैक्रियकारी रधारी मनुष्य निर्यंत्र विलक्षण परिणामों के योग से इन दोनों प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध करते हैं, जिससे इन दोनों प्रकृतियों को उदयबंधोत्कृष्टा वर्ग में शहूण किया गया है।

आयुकर्म में परस्पर संकर्म नहीं होता है तथा बद्धमान आयुकर्म के दलिक पूर्वबद्ध आयु के उपचय (वृद्धि) के लिए सहायक, निमित्त नहीं होते हैं। पूर्वबद्ध आयु स्वतन्त्र है और बर्तमान में बैध रही आयु भी स्वतन्त्र रहती है। जिसमें चारों प्रकारों में से एक भी प्रकार के द्वारा तिर्यचायु और मनुष्यायु की उत्कृष्ट स्थिति का लाभ नहीं होता है। जिसमें अनुदयबंधोत्कृष्टादि चारों संज्ञाओं से रहित है। यद्यपि देवायु और नरकायु<sup>१</sup> परमार्थतः अनुदयबंधोत्कृष्टा हैं। क्योंकि इनका उदय न हो तब उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है। लेकिन प्रयोजन के अभाव में पूर्वचार्यों ने आयुचतुष्क के लिये चारों में से एक भी संज्ञा नहीं दी है। इसीलिये यहाँ भी चारों संज्ञाओं में से किसी भी एक संज्ञा में उनका ग्रहण नहीं किया है।

इस प्रकार से उदयसंक्रमोत्कृष्टा आदि चारों प्रकारों में संकलित प्रकृतियों को जानना चाहिये। अब उदयवतित्व और अनुदयवतित्व की अपेक्षा प्रकृतियों के वर्णकरण का विचार करते हैं।

### उदयवती अनुदयवती प्रकृतियाँ

चरिमसमयेभि दलियं जासि अन्तत्यसंकमे ताओ ।

अगुदयवह इयरीओ उदयवई होंति पगईओ ॥६६॥

मार्गतरायआउगदंसणचउ वेयणीयमपुमित्यो ।

चरिमुदय उच्चवेयग उदयवई चरिमलोभो य ॥६७॥

१ देवायु और नरकायु को एक भी संज्ञा में ग्रहण नहीं करने का कारण यह ही सकता है जब उदयबंधोत्कृष्टादि प्रकृतियों की उत्कृष्ट सत्ता का विचार करते हैं तब उदयबंधोत्कृष्टा प्रकृतियों की पूर्ण सत्ता होती है और अनुदयबंधोत्कृष्टा की एक सभ्य न्यून होती है। अब यदि उक्त दोनों आयु के अनुदयबंधोत्कृष्टा में यिन्हें तो उनकी उत्कृष्ट स्थिति की सत्ता भी एक सभ्य न्यून क्यों न भानी जाए? यह संकेत होती है। किन्तु यह संकेत ही उपस्थिति न हो इसीलिये उनको किसी भी संज्ञा में नहीं लिया गया हो। क्योंकि आयु की पूर्ण सत्ता ही होती है, न्यून नहीं होती है।

**शास्त्रार्थ**—चरिमसमयमि—अन्त समय में, दलियं—दलिक, जापि—जिनके, अभ्यत्य—अभ्यत, संकरे—संक्रमित होते हैं, ताखी—वे, अनुदयवद्ध—अनुदयवती, इयरीओ—इतर, उदयवद्ध—उदयवती, होति—होती हैं, पराइओ—प्रकृतियाँ।

**नाणतराय**—नानावरण, अन्तराय, आउग—आयु, दर्शनचतुष्क—दर्शन-चतुष्क, वेष्टीय—वेदनीय, अपुमिस्त्री—नपुंसकवेद, रथीसेव, चर्फ मुदय—चरम समय तक उदय रहने वाली (नामकर्म की नी प्रकृतियाँ), उच्चद—उच्चत्रयोत्र, वेष्टग—वेदकसम्यक्त्व, उदयवद्ध—उदयवती, चरिमलोभे—अंतिम लोभ (संज्वलन लोभ), य—और।

**गाथार्थ**—जिन कर्मप्रकृतियों के दलिक अन्त समय में अन्यत्र संक्रमित होते हैं, वे प्रकृतियाँ अनुदयवती और इतर उदयवती हैं।

**जानावरण**, अन्तराय, आयु, दर्शनचतुष्क, वेदनीय, नपुंसक-वेद, स्त्रीवेद, अयोग्यिकेवली वे चरम समय तक उदय में रहने वाली नामकर्म की नी प्रकृतियाँ, उच्चवगोत्र, वेदकसम्यक्त्व और संज्वलन लोभ, ये उदयवती प्रकृतियाँ हैं।

**विशेषार्थ**—इन दो गाथाओं में से पहली में अनुदयवतित्व उदयवतित्व के लक्षण और दूसरी में उदयवती प्रकृतियों के नाम बताये हैं।

अनुदयवतित्व और उदयवतित्व का लक्षण इस प्रकार है—

जिन प्रकृतियों के दलिक अन्त समय में यानी उन-उन प्रकृतियों की स्वरूपसत्ता का जिस समय भाश होता है, उस समय अन्य प्रकृतियों में स्तिवृकसंकर द्वारा संक्रमित हों और संक्रमित होकर अन्य प्रकृतिरूप से अनुभव किये जायें वे प्रकृतियाँ अनुदयवती कहलाती हैं और जिन प्रकृतियों के दलिक अपनी सत्ता का जिस समय भाश

होता है, उस समय अपने रूप में अनुभव किये जाने वे प्रकृतियाँ उदयवती हैं।

उक्त लक्षणों के अनुसार अब पहले उदयवती प्रकृतियों के नाम बताते हैं—

ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक, आयुचतुष्क, दर्शनावरणचतुष्क, साता-असाता वेदनीय, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद तथा मनुष्यगति, पंच-न्द्रियज्ञाति, त्रिस, बादर, पर्याप्ति, गुण्य, आदेय, यज्ञाकीयि और तीर्थकरनाम रूप अयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय तक उदय रहने वाली नामनवक प्रकृतियाँ, उच्चमोत्र, वेदकसम्यक्त्व और सञ्जलन लोभ, कुल मिलाकर ये चौतीस प्रकृतियाँ उदयवती हैं।

इनकी उदयवती मानने का कारण यह है कि इनके उदय और सत्ता का एक समय में ही क्षय होता है। जो इस प्रकार समझना चाहिये—

मतिज्ञानावरण आदि ज्ञानावरणपंचक, दानान्तराय आदि अन्तरायपंचक और चक्षुदर्शनावरण आदि दर्शनावरणचतुष्क इन चौदह प्रकृतियों का आरहवेणीशक्तिरायगुणस्थान के चरम समय में जब उनकी सत्ता का नाश होता है उस समय अपने रूप में अनुभव किये जाने से उदयवती हैं।

इसी प्रकार चरमोदयवती नामकर्म की मनुष्यगति आदि नी प्रकृतियों, साता-असातावेदनीय और उच्चमोत्र कुल मिलाकर बारह प्रकृतियों का अयोगिकेवलीगुणस्थान के अन्तसमय में, सञ्जलन लोभ का क्षपकश्रीणि में सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के अन्तसमय में, वेदक-सम्यक्त्व (सम्यक्त्वमोहनीय) का क्षायिकसम्यक्त्व का उपार्जन करते समय अपने क्षय के चरम समय में, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का उस-उस वेद के उदय से श्रेणि आरम्भ करने वाले को नीचे अनिवृत्त-बादरसंपरायगुणस्थान के संख्यात भाग बीतने के बाद उस-उस वेद के उदय के अन्तसमय में, आरों आयुओं का अपने-अपने भव के चरम

समय में अधिक-अधिक से रूप में अनुभव होता है। इसीलिये ये सभी प्रकृतियाँ उदयवती कहलाती हैं।

यद्यपि साता-असातावेदनीय और स्त्रीवेद, नषुसकवेद में अनुदयवतित्व भी सम्भव है। कथोंकि चौदहवें गुणस्थान के अन्त समय में एक जीव के साता-असाता में एक का ही उदय होता है। इस कारण जिसका उदय हो वह उदयवती और जिसका उदय न हो वह अनुदयवती है। इसी तरह जिस वेद के उदय से शेष आरम्भ की हो, वह वेदप्रकृति उदयवती और शेष अनुदयवती संज्ञक कहलाती है। इस प्रकार इस प्रकृतियों में अनुदयवतित्व भी सम्भव है। परन्तु मुख्य गुण के आश्रय से उस प्रकृति का नामकरण होता है। एक जीव की अपेक्षा एक प्रकृति उदयवती और दूसरी अनुदयवती संज्ञक हो सकती है, परन्तु भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा ये चारों प्रकृतियाँ उदयवती हैं। इस दृष्टि से पूर्व पुरुषों ने साता-असातावेदनीय और नषुसकवेद, स्त्रीवेद को उदयवती प्रकृति माना है।

इस प्रकार से ये चौतीस प्रकृतियाँ उदयवती जानना चाहिये।

इन उदयवती प्रकृतियों में शेष रही एक सी चौदह प्रकृतियाँ अनुदयवती हैं। अनुदयवतो मानने के कारण महित उनके नाम इस प्रकार हैं—

चरमोदय संज्ञा वाली मनुष्यसति आदि नामकर्म की नी तथा नसकद्विक, लिंगचद्विक, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, श्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय रूप जातिचतुष्क, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप और उच्चोत कुल मिलाकर इन बाईस प्रकृतियों के सिवाय शेष रही नामकर्म की दक्षहत्तर और नीचगोञ्ज कुल मिलाकर बहत्तर प्रकृतियों के दलिकों को उदय-प्राप्त स्वजातीय अन्य प्रकृतियों में स्तिवुकसंक्रम द्वारा सङ्ग्रहित करके अयोग्यकेवली चरम समय में पर-प्रकृति के व्यापदेश से अनुभव करते हैं। इसी तरह निष्ठा और प्रचला को श्रीणकधायगुणस्थानवती जीव अनुभव करता है तथा मिथ्यात्वमोहनीय और मिथमोहनीय को

सप्तक के क्षयकाल में सम्यक्त्व में स्तिवुक्संक्रम द्वारा संक्रमित करके परव्यपदेश से अनुभव करता है, अनन्तानुवधिकषाय के क्षयकाल में उनके दलिकों को बध्यमान चारिश्मोहनीय में गुणसंक्रम द्वारा संक्रमित करके और उदयावलिकागत दलिकों को स्तिवुक्संक्रम द्वारा उदयवती प्रकृतियों में संक्रमित करके परव्यपदेश से अनुभव करता है तथा स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप, उद्योग, एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय जाति, नरकद्विक और तिर्थचद्विक नामकर्म की इन तेरह प्रकृतियों को बध्यमान यशकीर्तिनाम में गुणसंक्रम द्वारा संक्रमित करके और उदयावलिका के दलिकों को उदयप्राप्त नामकर्म की प्रकृतियों में स्तिवुक्संक्रम द्वारा संक्रमित करके पररूप से अनुभव करता है तथा स्थानद्विक्तिक को भी पहले तो बध्यमान दर्शनावरण-चतुष्क में गुणसंक्रम द्वारा संक्रमित करता है और उन्हें बाट उद्योग वलिका के दलिकों को स्तिवुक्संक्रम द्वारा संक्रमित करके अन्य व्यपदेश से अनुभव करता है।

इसी प्रकार भव्यम अष्टकषाय, हास्थषट्क, पुरुषवेद और संज्वलन क्रीध, मग्न, माध्या इन प्रकृतियों को यथायोग्य रीति से पुरुषवेदादि उत्तरोत्तर प्रकृतियों में प्रक्षेप करके पररूप से अनुभव करता है। इसीलिये ये एक सी ओरह प्रकृतियाँ अनुदयवती संज्ञा वाली हैं। क्योंकि इन प्रकृतियों के दलिक चरम समय में अन्यत्र संक्रमित किये जाने से इनके रसोदय का अभाव है।

इस प्रकार मे इकसीस वर्गों में बंधव्य प्रकृतियों के वर्गीकरण को जानना चाहिये। किस वर्ग में कौन-कौन-सी प्रकृति का समावेश है, सुगमता से जानने के लिए प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

इस तरह से बंधव्य-प्ररूपणा अधिकार में बंधव्य प्रकृतियों का सामान्य और विशेष की अपेक्षा समझ कठिन है। विना हेतु—निमित्त के बंधव्य का बंध नहीं होता है। अतः बंध के हेतुओं को जानना आवश्यक होने से अब फ्रमप्राप्त बंधहेतु नामक अर्थात् अधिकार का विस्तार से व्याख्यान प्रारम्भ करते हैं।



## बंधव्य-प्ररूपणा अधिकार की मूल गाथाे

नाणस्स दंसणस्स य आवरण वेयणोय मोहणीय ।  
 आउ य नामं गोयं तहंतराय च पथडीओ ॥१॥  
 पच नव दोन्नि अदुकीसा चउरो तहेव बायला ।  
 दोन्नि य पच य भणियो पथडीओ उत्तरो चेव पर्ण ॥  
 मईसुयओहीमणकेवलाण आवरणे भवे पदम् ।  
 तह दाण लाभ भोगीवभोगविरियंतराययं चरिम् ॥३॥  
 नयणेयरहिकेवल दंसण आवरणयं भवे चउहा ।  
 निहापयलाहि छहा निहाइदुरुत्त थीणद्वी ॥४॥  
 सोलस कसाय नव नोकसाय दंसणतिगं च मोहणीय ।  
 सुरलरतिरनिरयाऊ सायासायं च नीउच्चं ॥५॥  
 गइजाइसरीरंगं बंधण संघायणं च संघवणं ।  
 संठाण बन्नगंधरसफास अणुपुष्टिव विहगगई ॥६॥  
 अगुहलहु उवधार्य परधाउससास आयवुज्जोयं ।  
 निम्माण तित्थनामं चोहस अङ्ग पिहपत्तोया ॥७॥  
 तसबायरपञ्जज्ञत्त पत्तोय थिरं सुभं च नायव्वं ।  
 सुस्सरसुभगाइज्जं जसकित्ती सेयरा वीसं ॥८॥  
 गईयाईयाण भेया चउ पण पण ति पण पंच छ छक्क ।  
 पण दुग पणटु चउ दुग पिहुत्तरभेय पणसट्ठी ॥९॥  
 ससरीरंतरभूया बंधनसंघायणा उ बंधुदए ।  
 बण्णाइविगप्पावि हु बंधे नो सम्ममीसाहं ॥१०॥

वेउव्वाहारोरालियाण संग तेयकमजुत्ताण ।  
 नव बंधणाणि इयरदुजुत्ताण तिणि तेसि च ॥११॥  
 ओरालियाइयाण संघाया बंधणाणि य सजीगे ।  
 बधसुभसंतउदया आसज्ज अणेगहा नाम ॥१२॥  
 नील कसीण दुर्गंधि तित्त कडुयं मुहु खरं रुख्य ।  
 सीयं च असुभनवगं एगारसगं सुभं सेस ॥१३॥  
 धुवबंधिव्वुवोदय सब्बवाइ परियत्तमाण असुभओ ।  
 पंच य सप्तिवक्षा पगई य विवागओ चउहा ॥१४॥  
 नाणंतरायदसण व्वुवबंधि कसायमिच्छभयकुच्छा ।  
 अगुरुलघु निमिण तेयं उव्वधायं वष्णव्वङ्गकम्भं ॥१५॥  
 निम्माणथिराथिरतेयकम्भवणाइ अगुरुसुहमसुह ।  
 नाणंतरायदसण दंसणचउ भिच्छ निच्छुदया ॥१६॥  
 केवलियनाणदसण आवरण बारसाइमकसावा ।  
 मिच्छुल निहाओ इय बीसं सञ्चधाईओ ॥१७॥  
 सम्मतनाणदसणचरित्तधाइसणा उ धाईओ ।  
 तस्मेस देसधाइसणा उ पुण देसधाईओ ॥१८॥  
 नाणावरणचउकं दंसणतिग नोकसाय विम्बफण ।  
 संजलण देसधाई तइय विगल्पो इमो अल्पो ॥१९॥  
 नाणंतरायदसणचउकं परधायतित्यउस्सास ।  
 मिच्छुभयकुच्छुव्वुवंधिणी उ नामस्स अपरियत्ता ॥२०॥  
 मणुयतिग देवतिग तिरियाऊसास अद्वतणुयगं ।  
 विहगइवणाइसुभं तसाइदसतित्यनिम्माण ॥२१॥  
 चउरंसउसभआयथपराचायपणिदि अगुरुसाउच्चर्य ।  
 उज्जीयं च यस्त्वा सेसा बासीइ अपसत्त्वा ॥२२॥

आयावं संठाणं संघयणसरीरअंगं उज्जोधं ।  
 नामधुबोदयउवपरधायं पसेय साहारं ॥२३॥  
 उदद्दयभावा पोगलविवागिणो आउ भवविवागीणि ।  
 खेतविवागण्यपुळ्बी जीवविवागा उ सेसाओ ॥२४॥  
  
 मोहस्येव उवसमो खाओवसमो चउण्ह घाईणं ।  
 खयपरिणामियउदया अटुण्ह वि होति कम्माणं ॥२५॥  
 सम्मताइ उवसमे खाओवसमे मुणा चरित्ताई ।  
 लइए केवलभाइ तव्ववएओ उ लदईए ॥२६॥  
 नाणतरायदंसण वेयणियाणं तु भ्रंगया दोन्ति ।  
 साइसपञ्जाबसाणोवि होइ सेसाणं परिणामो ॥२७॥  
 उदये चिच्य अविरुद्धो खाओवसमो अणेगभेओ त्ति ।  
 जइ भवति तिण्ह एसो पएसउदयमि मोहस्स ॥२८॥  
 चउतिट्ठाणरसाइ सब्बधाईणि होति फड़ाइ ।  
 टुट्ठाणियाणि मीसाणि देसधाईणि सेसाणि ॥२९॥  
  
 निहएसु सब्बधाईरसेसु फड़ेसु देसधाईणं ।  
 जीवस्स गुणा जायति ओहीमणचक्कुभाईया ॥३०॥  
  
 आवरणमसववग्नं पुंसंजलणंतरायपयडीओ ।  
 चउट्ठाणपरिणयाओ दुर्तिचउठाणाड सेसाओ ॥३१॥  
 उपल - भूमी - बालुय - जलरेहासरिस संपराएसु ।  
 चउठाणाइ असुभाणं सेसयाणं तु वच्चासा ॥३२॥  
 थोसाडइनिबुवमो असुभाणं सुभाण खीर खंडुवमो ।  
 एगट्ठाणो उ रसो अणतगुणिया कमेणियरा ॥३३॥  
 उच्चं तित्त्वं सम्म मीसं वेउविवद्यकमाऊणि ।  
 मणुदुग्ग बाहारदुग्ग अट्ठारस अधुवस्ताओ ॥३४॥

पठमकसायसमेया एथाओ आउतित्थवज्जाओ ।  
 सत्तरसुब्बलणाओ तिगेमु गतिआणुपुव्वाऊ ॥३५॥  
 नियहेउसंभवेवि हु भयणिज्जो होइ जाण पयडीण ।  
 बंधो ता अधुवाओ खुवा अभयणीयवंथाओ ॥३६॥  
 दब्बं खेत्तं कालो भवो य भावो य हेयवो यच ।  
 हेउसमासेणुदओ जायइ सब्बाण पगईण ॥३७॥  
 अब्बोच्छिन्नो उदओ जाण पगईण ता घुवोदइया ।  
 बोच्छिन्नो चि हु संभवइ जाण अघुवोदया ताओ ॥३८॥  
 असुभसुभत्तणधाइत्तणाह॑ रसभेयओ मुणिज्जाहि ।  
 सविसयष्ठायभेण वाव्वं शाइत्तण नेथ ॥३९॥  
 जो धाएइ सविसयं सयलं सो होइ सब्बधाइरसो ।  
 सो निच्छिद्दो निद्दो तणुओ फलिहृभहरविमलो ॥४०॥  
 देसविधाइत्तणओ इयरो कङ्कांबलं सुसंकासो ।  
 विविहवहुच्छिद्भरिओ अप्पसिणेहो अदिमलो य ॥४१॥  
 जाण न विसओ धाइत्तणमि ताणपि सब्बधाइरसो ।  
 जायइ धाइसगासेण धोरया वेह चोरण ॥४२॥  
 धाइसओवसमेण सम्मचरित्ताइ जाइ जीवस ।  
 ताण हृणति देसं सजलणा नोकसाया य ॥४३॥  
 विणिवारिय जा गच्छइ बधं उदयं च अन्नपगईए ।  
 सा हु परियत्तमाणी अणिवारेति अपरियत्ता ॥४४॥  
 दुविहा विवागओ पुण हेउविवागाउ रसविवागाउ ।  
 एकेकका चि य चउहा जओ च सहो विगण्णेण ॥४५॥  
 जा ज समेच्च हेउ विवागउदय उवेति पगईओ ।  
 ता तविवागसन्ना सेसभिहाणाह॑ सुगमाइ ॥४६॥

अरुद्वारद्वीणं उदओ किन्न भवे पोमालाणि संपत्ति ।  
 अणुटठेहि वि किन्नो एवं कोहाइयाणिः ॥४७॥  
 आउव्व भवविवागा गई न आउस्स परभवे जम्हा ।  
 नो सव्वहा वि उदओ गद्देण पुण संकमेणत्विः ॥४८॥  
 अणुपुष्ट्वेण उदओ कि संकमणेण नत्वि सन्तव्विः ।  
 जह सेत्तहेडणो ताण न तह अचाण सविवागो ॥४९॥  
 संपत्ति जीवकाला काओ उदयं न जाति यगद्दीओ ।  
 एवमिणभीहेडँ आसज्ज विकेसयं नत्विः ॥५०॥  
  
 केवलदुग्गस्स सुहुमो हासाइसु कह न कुणइ अपुष्ट्वो ।  
 सुभगाईणं मिच्छो किलिट्टबो एगठाणिरसं ॥५१॥  
 जलरेहसमक्षसाए वि एगठाणी न केवलदुग्गस्स ।  
 जं तणुयपि हु भणियं आवरणं सव्वघाई से ॥५२॥  
  
 सेसासुभाण वि न जं खवगियराण न तारिसा सुढी ।  
 न सुभाणपि हु जम्हा ताण बंधो विसुज्जाति ॥५३॥  
  
 उक्कोसठिईअज्ञवसाणेहि एगठाणिओ होहो ।  
 सुभियाण तश जं ठिइ असंख्यगुणिया उ अणुभागा ॥५४॥  
  
 दुविहमिह सन्तकम्म धुवाधुवं सूडयं च सहेण ।  
 धुवसंतं चिय पढमा जबो न नियमा विसंजोगो ॥५५॥  
 अणुदयउदयोभयबंधणी उ उभवांधउदयबोच्छेया ।  
 सन्तरउभयनिरन्तरबंधा उदसंकमुक्कीसा ॥५६॥  
  
 अणुदयसंकमजेट्टा उदएणुदए य बंधउक्कोसा ।  
 उदयाणुदयकहीओ तितितिचउदुहा उ सव्वाओ ॥५७॥  
  
 देवनिरियाउवेउविवक्कक आहारजुयलतित्याण ।  
 बंधो अणुदयकाले धुवोदयाण तु उदयन्मि ॥५८॥

गयचरमलोभ घुवञ्चिधि मोहहासरद मण्यपुठीण ।  
 सुहमतिमआयवाण सपुरिसवेयाण बघुदया ॥५७॥  
 वोच्छिज्ज्ञति समंचिद कमसो सेसाण उक्कमेण तु ।  
 अद्गुणहमजससुरतिग वेउव्वाहारजुयलाण ॥५८॥  
 बुवबिणी उ तित्थगरनाम आउयचउक्क बावशा ।  
 एया निरन्तराओ समवीसुभसन्तरा सेसा ॥५९॥  
 अउरसउसभ परथाउसासपुसगलसायसुभखगई ।  
 वेउव्विउरलसुरनरतिरिमोयदु सुसरतसतिचऊ ॥६०॥  
 समयाओ अन्तमुहु उक्कोसा जाण सन्तरा ताओ ।  
 वधेहियमि लभया निरन्तरा तस्मि ल लहुन्ने ॥६१॥  
 उदए व अणुदए वा बधाओ अन्नसंकमाओ वा ।  
 ठिइसतं जाण भवे उक्कोसं ता तयक्खाओ ॥६२॥  
 मणुगाइ सायं सम्म थिरहासाइछ वेयसुभखगई ।  
 रिसहचउरसमाईपुच्छ उदसंकमुक्कोसो ॥६३॥  
 मणुयाणपुव्विमीसग आहारगदेवजुगलविचलाणि ।  
 सुहुमाइतिग तित्थ अणुदयसंकमण उक्कोसा ॥६४॥  
 नारयतिरिउरलदुग्ग छेवट्ठेविदिथावरायावं ।  
 निद्वा अणुदयजेदु उदउक्कोसा पराणाड ॥६५॥  
 चरिमसमयमि दलियं जासि अग्रत्थसंकमे ताओ ।  
 अणुदयवह इयरीओ उदयवह्नि होति परहिओ ॥६६॥  
 नाणतरायआउगदंसणचउ वेयणीयमपुमित्थी ॥  
 चरिमुदय उच्चवेयग उदयवह्नि चरिम लोभो य ॥६७॥

## वंशव्य-प्रलृपण अधिकार का गाथा- अकाराद्यनुक्रम

गाथांश	गा. सं. व्.
अगुरुलद्व उवधाय	७।४०
अणुदयउदओभयवंधिनी	क।१५४
अणुदयसंकमजेद्वा	ख।१५४
अणुपुव्वीण उदओ	४६।१४३
अरहरईण उदओ	४७।१३६
अव्वोच्छ्वो उदओ	३८।१२६
अमुभसुभत्तणधाइ	३६।१२७
आउव्व भवत्रिवागा	४८।१४१
आयार्व संठाण	२३।८५
आवरणपसव्वव्व	३१।११०
उक्कोसठिई अजजवसाणेहि	५४।१५०
उच्चं तित्य सम्म	३४।११६
उदहयभावापोगलविवागिणो	२४।८५
उदए व अणुदए व	६२।१६६
उदये चिव्य अविरहो	२८।१०१
उप्पल-भूमि-बालुय	३२।११३
ओरालियाइवार्ण	१२।६१
केवलदुग्मस्स सुहुमो	५१।१४५
फेवलियनाणदस्य	१७।७६
गइजाइसरीरंग	६।२८
गइयाइयागभेया	३।५४

गाथांक	पर. सं. पृ.
गथचरमलोभ धुवबंधि	४७।१५६
धाद्यखओवसमेण	४३।१३३
धामाडइनिलुवभी	३३।११५
चउतिट्टाणरसाइ	२६।१०६
चउरंसउसभआवव	२२।८३
चउरंसउसभयरद्या	६०।१६५
चरिमसमयंमि दलियं	६६।१७७
जन्मरेहसम कसाए	५२।१४७
जाण न विसओ धाइ	४२।१३२
जो धाएइ सविसयं	४०।१२६
जा जं समेच्चहेउ	४६।१३८
तसबायर पञ्जत्त'	८।४३
दब्बं खेल' कालो	३७।१२५
दुविहभिय संतकम्म	५५।१५२
दुविहाविवागओ पुण	४४।१३७
देवनिरथाउवेउविछुक	५६।१५६
देसविषाइत्तणओ	४।१२६
धुवबंधि उ तित्थगरनाम	५६।१६५
धुवबंधि धुवोदय	१४।६७
नयणेथरोहि केबल	४।१४
नाणस्स दंसणस्स य	१।३
नाणावरण चउकक	१६।८१
नाणंतराय आउग	६७।१७७
नाणंतरायदंसण	१५।७०
नाणंतरायदंसण	२।१६८
नाणंतरायदंसणचउकक	२०।८२

गायोग	गा. सं पृ.
नारथतिरितरलदुर्ग	६४१७५
निम्नाणधिराथिरतेय	१६१७४
निहएसु सबवश्चाद्वरसेसु	१०१७०८
नील कसीण दुमधं	१३१६५
नियहेउसंभवेकि हु	१६१२३
पद्मकसायसमेया	३४१२१
पंचनवदीन्नि अद्वावीसा	२११०
मइसुधओहीमणकेवलाण	३१११
मणुगइ सार्य सम्म	६३१७१
मणुयतिग देवतिग	२११५३
मणुधाण पुविमीसग	६४१७३
मोहूसेव उवसमो	२४१६१
विणिकारिय जा गच्छद	४४१३४
वेउछाहारोरालियाण	१११५८
वोच्छज्जलि समंचिय	७८१५९
समयाओ अत्तमुहु	६११६६
समत्तनाणदसण	१८१५७
समत्ताइ उवसमे	२६१४५
संसरीरन्तरभूया	१०१५५
सेसा सुभाणकि न	५३१४७
सोलस कसाय नवनीकसाय	५११६
संपर्य जीव काला	५०१४४

## गति और जाति नाम को पृथक्-पृथक् मानने में हेतु

गति और जाति नामकर्म दोनों जीव की अवश्याविशेष के बोधक हैं। इन दीनों को पृथक्-पृथक् मानने का कारण इस प्रकार है—

उपाध्याय श्री यजोविजय जी ने वर्मप्रकृति के विवेचन में जातिनामकर्म के सम्बन्ध में इस प्रकार संकेत किया है—

एकेन्द्रियादि जीवों में एकेन्द्रियादि शब्दव्यवहार के कारण लक्षाप्रकार के समान परिणामरूप सामान्य को जाति कहते हैं और उसका कारणभूत जो कर्म वह जातिनामकर्म है।

इस रिक्य में दुर्वचितावों का अविश्वाय इस प्रकार है—

द्रव्यरूप इन्द्रियां अंगोपागनामकर्म और इन्द्रियपर्याप्ति नामकर्म के द्वारा बनती हैं और भावरूप इन्द्रियां स्पर्शनादि इन्द्रियावरण (मतिलालावरण) कर्म के अपोदरम से उत्पन्न होती हैं। क्योंकि 'इन्द्रियों क्षयोपशमजन्य हैं' ऐसा आगमिक कथन है। परन्तु यह एकेन्द्रिय है, यह द्विनिधि है इत्यादि शब्द-व्यवहार में निमित्त जो सामान्य है वह अन्य किसी के द्वारा असाध्य होने से जातिनामकर्मजन्य है।

प्रश्न—शब्दव्यवहार के कारणमात्र से जाति की सिद्धि नहीं ही सकती है। यदि ऐसा माना जाये तो हरि, सिंह आदि शब्दव्यवहार में कारणरूप हरित्व आदि जाति की भी सिद्धि होगी और यदि ऐसा माना जाये तो जाति संख्या की कोई सीमा ही नहीं रहेगी। इसलिए एकेन्द्रिय आदि पद का व्यवहार औपाधिक है, जातिनामकर्म मानने का कोई कारण नहीं है तथा यदि एकेन्द्रिय-त्वादि जाति को इच्छकार करें तो नारकत्वादि को भी नारक आदि व्यवहार

का कारण होने से पंचेन्द्रिय की अवान्तर जाति के रूप में मानना पछेश और फिर गतिनामकर्म मानने की आवश्यकता नहीं रहेगी ।

उत्तर—अग्रकुष्ट चैतन्य आदि के नियामक रूप में एकेन्द्रियत्वादि जाति की सिद्धि होती है । यानि पंचेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय का चैतन्य अल्प (अल्प क्षयो-पश्चाम रूप), चतुरिन्द्रिय से श्रीनिद्रिय का अल्प, इस प्रकार से चैतन्य की व्यवस्था में एकेन्द्रियत्वादि जाति हेतु है एवं इसी प्रकार के शब्दब्यवहार का कारण भी जाति ही है, जिससे उसके कारण रूप में जातिनामकर्म सिद्ध है । नारकत्व आदि जाति नहीं है, क्योंकि तिर्यचतुर वा पंचेन्द्रियत्व के साथ संकर्य<sup>१</sup> वादक है, नारकत्व आदि जो यति है, वह अमुक प्रकार के सुख-दुःख के उपभोग में नियामक है और उसके कारण रूप में गतिनामकर्म भी सिद्ध है ।

तात्पर्य यह कि गतिनामकर्म सुख-दुःख के उपभोग का नियामक है और जातिनामकर्म न को द्वयेन्द्रिय का और न भावेन्द्रिय का कारण है । क्योंकि द्वयेन्द्रियाँ अंगोपांगतामकर्म एवं इन्द्रियपर्याप्तिकर्त्त्व हैं और भावेन्द्रियों का हेतु भतिहानावरणकर्म का क्षयोपशम है । परन्तु एकेन्द्रिय, श्रीनिद्रिय आदि जीवों के उत्तरोत्तर चैतन्य-विकास का नियामक है कि एकेन्द्रिय से श्रीनिद्रिय में चैतन्य का विकास अधिक होता है, श्रीनिद्रिय से श्रीनिद्रिय में अधिक आदि, ऐसी स्ववस्था होता जातिनामकर्म का कारण है ।

□□

१ विश्व-सिद्ध अधिकरण में रहने वाले धर्मों का एक में जो समावेश होता है, उसे संकर दीप कहते हैं ।

## विशेष स्थलोकरण

१—ओदारिक शरीरस्तुक—ओदारिक शरीर, ओदारिक-ओदारिकबंधन, ओदारिक-तैजसबंधन, ओदारिक-कार्मणबंधन, ओदारिक-तैजस-कार्मणबंधन, ओदारिक-संज्ञातन, कुल ६ प्रकृति ।

२—वैक्षियस्तुक—वैक्षिय शरीर, वैक्षिय-वैक्षियबंधन, वैक्षिय-तैजसबंधन, वैक्षिय-कार्मणबंधन, वैक्षिय-तैजस-कार्मणबंधन, वैक्षियसंज्ञातन, कुल ६ प्रकृति ।

३—आहारकस्तुक—आहारक शरीर, आहारक-आहारकबंधन, आहारक-तैजसबंधन, आहारक-कार्मणबंधन, आहारक-तैजस-कार्मणबंधन, आहारक-संज्ञातन, कुल ६ प्रकृति ।

४—तैजसस्तुक—तैजस शरीर, तैजस-तैजसबंधन, तैजस-कार्मणबंधन, तैजससंज्ञातन, कुल ४ प्रकृति ।

५—कार्मणत्रिक—कार्मण शरीर, कार्मण-कार्मणबंधन, कार्मणसंज्ञातन, कुल ३ प्रकृति ।

६—उदयवती-अनुदयवती—जीवहृष्टे गुणसम्भान में वेदनीयत्रिक में से एक का उदय होता है और एक का उदय नहीं होता है तथा अपने से इतर वेदोदय में अणी मांडने वाले के नयुसकवेद और स्वीकेद का उदय नहीं होता है जिससे ये चारों प्रकृतियां अनुदयवती भी सम्भव हैं । परन्तु शिक्ष-पिच्छ जीवों की अपेक्षा उदयवती भी हैं । इसलिये मुख्य गुण की इडिट से उदयवती प्रकृतियों में गणना की है ।

७—कर्णस्तुक की पुष्प-पापकल्पता—कर्णस्तुक प्रकृतियों में से कल्पित पुष्प रूप और कल्पित पाप रूप हैं । इसीलिये यहाँ दोनों वर्गों में संकलित किया । पुष्पक-पुष्पक भेदापेक्षा इनकी नी उत्तर प्रकृतियां पापरूप हैं, शेष रक्ताद्य पुष्प रूप । जिनके नाम गाथा १३ में जाताये हैं ।

**५—रसविषयक प्रकृतियाँ—**हेतुविषयक की तरह रसविषयक की अपेक्षा भी प्रकृतियों के खार प्रकार हैं—(१) एकस्थानक, (२) द्विस्थानक, (३) त्रिस्थानक, (४) चतुर्स्थानक। सभी शुभ और अशुभ प्रकृतियों में सामान्य से द्वि०-द्वि०-चतुर्स्थानक रसबंध होता है। लेकिन शेणि पर आरुद्ध होने के पश्चात् निम्नलिखित प्रकृतियों में एकस्थानक रस भी पाया जाता है। उनके नाम इस प्रकार हैं—मलिनानावरणादि चतुर्क, चक्रदर्ढनावरणादि शिक, संज्वलनकषायचतुर्क, पुरुषवेद, अंतरायपंचक। ये कुल सबह प्रकृतियाँ हैं। इसीलिये इन सबह प्रकृतियों की चतुर्स्थानपरिणत कहते हैं।

**६—आयुचतुर्क उदयवंशोत्कृष्टा आदि व्यों नहीं—**आयुकर्म में परस्पर संक्रम होता नहीं तथा पूर्ववद्ध आयुकर्म के इलिक वग्रयमान आयु के उपचय के लिये भी कारण नहीं हैं। पूर्ववद्ध और वग्रयमान शीमों प्रकार की आयु स्वतन्त्र हैं। जिससे आयुचतुर्क का उदयवंशोत्कृष्टा, अनुदयवंशोत्कृष्टा, उदयवंशोत्कृष्टा, अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा इन चार वर्गों में से किसी में ही ज्ञान नहीं होता है। वच्चपि देव, चरकाय परमार्थतः अनुदयवंशोत्कृष्टा है। क्योंकि ये अपने अनुदयकाल में जंघती हैं। परन्तु प्रयोजन के अभाव में पूर्वीचारणों ने चार में से किसी भी वर्ग की विवक्षा नहीं की है।

